जैन दर्शन में आचार-मीमांसा

—मुनि नथमल

21/50

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह
के
अभिनन्दन में

जैन दर्शन में आचार-मीमांसा

मुनि नथमल

प्रवन्ध-सम्पादक
छगनलाल शास्त्री

प्रकाशक—
सेठ मन्नालालजी सुराना
मेमोरियल ट्रस्ट
८१, सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता-२६

प्रवन्धक—
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

जैन दर्शन ग्रन्थमाला :
सत्रहवां पुष्प

मुद्रक :
रैफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

प्रथम संस्करण १००० : मूल्य २ रुपये ५० न० पैसे
आषाढ़, संवत् २०१७

प्रज्ञापना

ज्ञान नेत्र है, अचार चरण। पथ को देखा तो सही, पर उस ओर चरण नहीं बढ़ते, देखने से क्या बनेगा? अभीप्सित लक्ष्य दूर का दूर ही रहेगा, द्रष्टा उसे आत्मसात् नहीं कर पाएगा। यथार्थ को जाना, आचरण में लिया —तभी साध्य सधेगा। यही कारण है, आचार का जीवन-शुद्धि के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन दर्शन का तो मानो यह प्राण है। विभावगत आत्मा पुनः अपने शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित हो, इसके लिए सत्य को जानना और उसे अधिगत करने के निमित्त जागरूक भाव से सक्रिय रहना आचार-साधना है। जैन वाङ्मय इसके बहुमुखी विवेचन से भरा है।

महातपा, जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा रचे 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' से गृहीत 'जैन दर्शन में आचार मीमांसा' नामक यह पुस्तक आचार के विविध पहलुओं पर विशद, प्रकाश डालती है।

मुनि श्री ने इसमें ज्ञान, चारित्र, साधना, श्रमण-संस्कृति एवं जैन दर्शन और वर्तमान युग आदि विविध विषयों पर सांगोपांग विश्लेषण किया है।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापंथ का प्रसार तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन में संचार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्य-पूर्ति का जो महत्त्वपूर्ण कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन में सत्तत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिए चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा प्रमुख समाजसेवी,

साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के समक्ष अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिए कार्य करता आ रहा है, इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रवन्ध-भार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

आशा है, सत् आचार के पथिकों के लिए यह पुस्तक प्रेरणादायी सिद्ध होगी।

सरदारशहर (राजस्थान)
श्रावण शुक्ला ७, २०१७

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

विषयानुक्रम

जिज्ञासा	......	......	१
सम्यग् दर्शन	......	......	७
सम्यग् ज्ञान	......	......	३५
सम्यग् चारित्र	......	......	६५
साधना-पद्धति	......	......	७६
श्रामण-संस्कृति की दो धाराएं	......	......	११५
जैन दर्शन और वर्तमान युग	......	......	१२७
परिशिष्ट (टिप्पणियां)	......	......	१५५

एक

जिज्ञासा

लोक-विजय

लोकसार

साधना-पथ

संसार और मोक्ष

लोक-विजय

गौतम ने पूछा—भगवन्! विजय क्या है?

भगवान् ने कहा—गौतम! आत्म-स्वभाव की अनुभूति ही शाश्वत सुख है। शाश्वत-सुख की अनुभूति ही विजय है [1]।

दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा में दुःख की उपलब्धि जो है, वही पराजय है।

भगवान् ने कहा—गौतम!

जो क्रोध-दर्शी है, वह मान-दर्शी है।

जो मान-दर्शी है, वह माया-दर्शी है।

जो माया-दर्शी है, वह लोभ-दर्शी है।

जो लोभ-दर्शी है, वह प्रेम-दर्शी है।

जो प्रेम-दर्शी है, वह द्वेष-दर्शी है।

जो द्वेष-दर्शी है, वह मोह-दर्शी है।

जो मोह-दर्शी है, वह गर्भ-दर्शी है।

जो गर्भ-दर्शी है, वह जन्म-दर्शी है।

जो जन्म-दर्शी है, वह मार-दर्शी है।

जो मार-दर्शी है, वह नरक दर्शी है।

जो नरक-दर्शी है, वह तिर्यक्-दर्शी है।

जो तिर्यक्-दर्शी है, वह दुःख-दर्शी है [2]।

दुःख की उपलब्धि मनुष्य की घोर पराजय है। नरक और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) की योनि दुःखानुभूति का मुख्य स्थान है—पराजित व्यक्ति के लिए बन्दी-गृह है।

गर्भ, जन्म और मौत—ये वहाँ ले जाने वाले हैं। वहाँ ले जाने का निर्देशक मोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष की परस्पर व्याप्ति है। ये सब मोह के ही विविध-रूप हैं।

मोह का मायाजाल इस छोर से उस छोर तक फैला हुआ है। वही लोक है।

एक मोह को जीतने वाला समूचे लोक को जीत लेता है। भगवान् ने कहा—गौतम ! यह सर्वदर्शी का दर्शन है, यह निःस्त्र-विजेता का दर्शन है, यह लोक-विजेता का दर्शन है [३]।

द्रष्टा, निःशस्त्र और विजेता जो होता है वह सब उपाधियों से मुक्त हो जाता है अथवा सब उपाधियों से मुक्ति पानेवाला व्यक्ति ही द्रष्टा, निःस्शत्र या विजेता हो सकता है [४]।

यह दृष्टा का दर्शन है, यह शस्त्र-हीन विजेता का दर्शन है। क्रोध, मान, माया और लोभ को त्यागने वाला ही इसका अनुयायी होगा। वह सब से पहले पराजय के कारणों को समझेगा, फिर अपनी भूलों से निमंत्रित पराजय को विजय के रूप में बदल देगा [५]।

लोकसार

गौतम—भगवन् ! जीवन का सार क्या है ?

भगवान्—गौतम ! जीवन का सार है—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि।

गौतम—भगवन् ! उसकी उपलब्धि के साधन क्या हैं ?

भगवान्—गौतम ! अन्तर्-दर्शन, अन्तर्-ज्ञान और अन्तर्-विहार [६]।

जीवन का सार क्या है ? यह प्रश्न आलोचना के आदिकाल से चर्चा जा रहा है।

विचार-सृष्टि के शैशव काल में जो पदार्थ सामने आया, मन को भाया, वही सार लगने लगा। नश्वर सुख के पहले स्पर्श ने मनुष्य को मोह लिया। वही सार लगा। किन्तु ज्योंही उसका विपाक हुआ, मनुष्य चिल्लाया—"सार की खोज अभी अधूरी है। आपातभद्र और परिणाम-विरस जो है वह सार नहीं है; क्षणभर सुख दे और चिरकाल तक दुःख दे, वह सार नहीं है; थोड़ा सुख दे और अधिक दुःख दे, वह सार नहीं है [७]।"

बहिर्-जगत् (दृश्य या पौद्गलिक जगत्) का स्वभाव ही ऐसा है। उसके गुण—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द—आते हैं, मन को लुभा चले जाते हैं।

ये गुण विषय हैं। विषय के आसेवन का फल है—संग। संग का फल है—मोह। मोह का फल है—बहिर्-दर्शन (दृश्य जगत् में आस्था) [८]। बहिर्-दर्शन का फल है—'बहिर्-ज्ञान' (दृश्य जगत् का ज्ञान)। 'बहिर्-ज्ञान' का फल है—'बहिर्-विहार' (दृश्य जगत् में रमण)।

इसकी सार-साधना है दृश्य-जगत् का विकास, उन्नयन और भोग।

सुखाभास में सुख की आस्था, नश्वर के प्रति अनश्वर का सा अनुराग, अहित में हित की सी गति, अभक्ष्य में भक्ष्य का सा भाव, अकर्तव्य में कर्तव्य की सी प्रेरणा—ये इनके विपाक हैं।

विचारणा के प्रौढ़-काल में मनुष्य ने समझा—जो परिणाम-भद्र, स्थिर और शाश्वत है, वही सार है। इसकी संज्ञा—'विवेक-दर्शन' है।

विवेक-दर्शन का फल है—विषय-त्याग।

विषय-त्याग का फल है—असंग।

असंग का फल है—निर्मोहता।

निर्मोहता का फल है—अन्तर्-दर्शन।

अन्तर्-दर्शन का फल है—अन्तर्-ज्ञान।

अन्तर्-ज्ञान का फल है—अन्तर्-विहार।

इस रत्न-त्रयी का समन्वित-फल है—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि—मोक्ष या आत्मा का पूर्ण विकास—मुक्ति।

भगवान् ने कहा—गौतम! यह आत्मा (अदृश्य-जगत्) ही शाश्वत सुखानुभूति का केन्द्र है। वह स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द से अतीत है इसलिए अदृश्य, अपौद्गलिक, अभौतिक है। वह चिन्मय-स्वभाव में उपयुक्त है, इसलिए शाश्वत सुखानुभूति का केन्द्र है[९]।

फलित की भाषा में साध्य की दृष्टि से सार है—आत्मा की उपलब्धि और साधन की दृष्टि से सार है—रत्नत्रयी।

इसीलिए भगवान् ने कहा—गौतम! धर्म की श्रुति कठिन है, धर्म की श्रद्धा कठिनतर है, धर्म का आचरण कठिनतम है[१०]।

धर्म-श्रद्धा की संज्ञा 'अन्तर्-दृष्टि' है। उसके पाँच लक्षण हैं—(१) शम

(२) संवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य। धर्म की श्रुति से आस्तिक्य दृढ़ होता है।

आस्तिक्य का फल है—अनुकम्पा, अक्रूरता या अहिंसा।

अहिंसा का फल है—निर्वेद—संसार-विरक्ति, भोग-खिन्नता।

भोग से खिन्न होने का फल है—संवेग—मोक्ष की अभिलाषा—धर्म-श्रद्धा। धर्म-श्रद्धा का फल है—शम—तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ का विलय और नश्वर सुख के प्रति विराग और शाश्वत सुख के प्रति अनुराग [११]।

लोक में सार यही है।

साधना-पथ

"आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं"—सूत्र'

..."विद्या और चरित्र—ये मोक्ष हैं"—।

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—ये साधना के तीन अङ्ग हैं। केवल सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान या सम्यक्-चारित्र से साध्य की सिद्धि नहीं होती। दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये तीनों निरावरण (क्षायिक) बन भविष्य को विशुद्ध बना डालते हैं। अतीत की कर्म-राशि को धोने के लिए तपस्या है।

शारीरिक दृष्टि से उक्त तीनों की अपेक्षा तपस्या का मार्ग कठोर है। पर यह भी सच है—कष्ट सहे विना आत्म-हित का लाभ नहीं होता [१२]।

महात्मा बुद्ध ने तपस्या की उपेक्षा की। ध्यान को ही निर्वाण का मुख्य साधन माना। भगवान् महावीर ने ध्यान और तपस्या—दोनों को मुख्य स्थान दिया। यूं तो ध्यान भी तपस्या है, किन्तु आहार-त्याग को भी उन्होंने गौण नहीं किया। उसका जितनी मात्रा और जितने रूपों में जैन साधकों में विकास हुआ, उतना दूसरों में नहीं—यह कहना अत्युक्ति नहीं।

तपस्या आत्म-शुद्धि के लिए है। इसलिए तपस्या की मर्यादा यही है कि वह इन्द्रिय और मानस विजय की साधक रहे, तब तक की जाए। तपस्या कितनी लम्बी हो—इसका मान-दण्ड अपनी-अपनी शक्ति और विरक्ति है। मन खिन्न न हो, आर्त्त-ध्यान न बढ़े, तब तक तपस्या हो—यही बस मर्यादा

है[१३]। विरक्ति काल में उपवास से अनशन तक की तपस्या आदेय है। उसके बिना वे आत्म-वञ्चना, या आत्म-हत्या के साधन बन जाते हैं।

संसार और मोक्ष

जैन-दृष्टि के अनुसार राग-द्वेष ही संसार है। ये दोनों कर्म-बीज हैं[१४]। ये दोनों मोह से पैदा होते हैं[१५]। मोह के दो भेद हैं—(१) दर्शन-मोह (२) चारित्र-मोह। दर्शन-मोह तात्त्विक दृष्टि का विपर्यास है। यही संसार-भ्रमण की मूल जड़ है। सम्यग्-दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान नहीं होता। सम्यग्-ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र, नहीं होता, सम्यक्-चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता[१६]।

चारित्र-मोह आचरण की शुद्धि नहीं होने देता। इससे राग-द्वेष तीव्र बनते हैं, राग-द्वेष से कर्म और कर्म से संसार—इस प्रकार यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है।

कर्म-चक्र

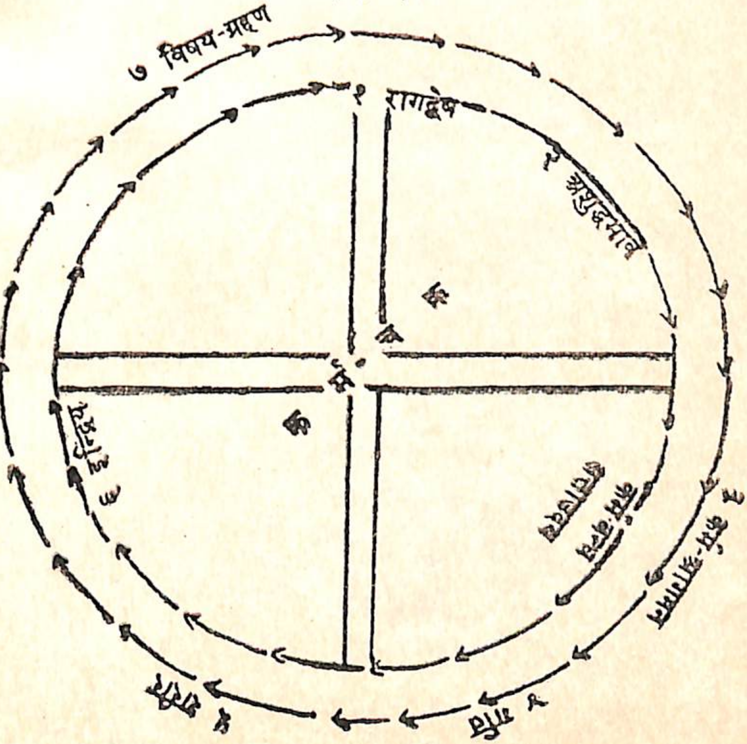

बौद्ध दर्शन भी संसार का मूल राग-द्वेष और मोह या अविद्या—इन्हीं को मानता है [१७]। नैयायिक भी राग-द्वेष और मोह या मिथ्याज्ञान को संसार-बीज मानते हैं [१८]। सांख्य पांच विपर्यय और पतञ्जलि क्लेशों को संसार का मूल मानते हैं [१९]। संसार प्रकृति है, जो प्रीति-अप्रीति, और विषाद या मोह धर्म वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुण युक्त है—त्रिगुणात्मिका है।

प्रायः सभी दर्शन सम्यग् ज्ञान या सम्यग्-दर्शन को मुक्ति का मुख्य कारण मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में क्षणभङ्गुरता का ज्ञान या चार आर्य-सत्यों का ज्ञान विद्या या सम्यग् दशन है। नैयायिक तत्त्व-ज्ञान,[२०] सांख्य[२१] और योग दर्शन[२२] भेद या विवेक-ख्याति को सम्यग्-दर्शन मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार तत्त्वों के प्रति यथार्थ रुचि जो होती है, वह सम्यग्-दर्शन है[२३]।

दो

७-३४

सम्यग्-दर्शन

शील और श्रुत

आराधना या मोक्ष-मार्ग

धर्म

सम्यक् संप्रयोग

पौर्वापर्य

साधनाक्रम

स्वरूप विकासक्रम

सम्यक्त्व

मिथ्या-दर्शन और सम्यक्-दर्शन

ज्ञान और सम्यग्-दर्शन का भेद

दर्शन के प्रकार

त्रिविध दर्शन

पंचविध दर्शन

सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के हेतु

दशविध रुचि

सम्यग्-दर्शन का प्राप्तिक्रम और लब्धि-प्रकिया।

यथा प्रवृत्ति

मार्ग-लाभ

आरोग्य लाभ

सम्यग् दर्शन-लाभ

अन्तर मुहूर्त्त के वाद

तीन पुञ्ज

मिथ्या दर्शन के तीन रूप

सम्यग् दर्शन के दो रूप

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज
मिश्र-पुञ्ज संक्रम
व्यावहारिक सम्यग् दर्शन
सम्यग्दर्शी का संकल्प
व्यावहारिक सम्यग्-दर्शन की स्वीकार-विधि।
आचार और अतिचार
पांच अतिचार
सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहचान
पांच लक्षण
सम्यग्-दर्शन का फल
महत्त्व
ध्रुवसत्य
असंभाव्य कार्य
चार सिद्धान्त
सत्य क्या है?
साध्य-सत्य

शील और श्रुत

एक समय भगवान् राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान् को वंदना कर बोले—भगवन्! कई अन्य यूथिक कहते हैं—शील ही श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत ही श्रेय है, कई कहते हैं शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत श्रेय है और शील भी श्रेय है; इनमें कौनसा अभिमत ठीक है भगवन्?

भगवान् बोले—गौतम! अन्य-यूथिक जो कहते हैं, वह मिथ्या (एकान्त अपूर्ण) है। मैं यूं कहता हूँ—प्ररूपणा करता हूँ—

चार प्रकार के पुरुष-जात होते हैं—

१—शीलसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न नहीं।

२—श्रुतसम्पन्न, शीलसम्पन्न नहीं।

३—शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न।

४—न शीलसम्पन्न और न श्रुतसम्पन्न।

पहला पुरुष-जात शीलसम्पन्न है—उपरत (पाप से निवृत्त) है, किन्तु अश्रुतवान् है—अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का देश-आराधक है [1]।

दूसरा श्रुत-सम्पन्न है—विज्ञातधर्मा है, किन्तु शील सम्पन्न नहीं—उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है [2]।

तीसरा शीलवान् भी है (उपरत भी है), श्रुतवान् भी है (विज्ञातधर्मा भी है), इसलिए वह सर्व-आराधक है।

चौथा शीलवान् भी नहीं है (उपरत भी नहीं है), श्रुतवान् भी नहीं है (विज्ञातधर्मा भी नहीं है), इसलिए वह सर्व विराधक है [3]।

इसमें भगवान् ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है [4]।

आराधना या मोक्ष-मार्ग

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अन्तर-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं[५] — (१) ज्ञान-आराधना (२) दर्शन-आराधना (३) चरित्र-आराधना, इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

(१) ज्ञान-आराधना—उत्कृष्ट (प्रकृष्ट प्रयत्न) मध्यम (मध्यम प्रयत्न) जघन्य (अल्पतम प्रयत्न)

(२) दर्शन-आराधना— ,, ,, ,,

(३) चरित्र-आराधना—,, ,, ,,

आत्मा की योग्यता विविधरूप होती है। अत एव तीनों आराधनाओं का प्रयत्न भी सम नहीं होता। उनका तरतमभाव निम्न यंत्र से देखिए—

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	दर्शन का अल्पतम प्रयत्न	चरित्र का उत्कृष्ट प्रयत्न	चरित्र का मध्यम प्रयत्न	चरित्र का अल्पतम प्रयत्न
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है		है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है				है	है	है
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है					

यह आन्तरिक वृत्तियों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र के तारतम्य को समझने की यह पूर्ण दृष्टि है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुँच कर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण-विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियों से मुक्त हो चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधनामय है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस; इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से अनेक रूप बतलाए हैं। पर वह सब विस्तार है। संक्षेप में आत्मरमण ही धर्म है। वास्तविकता की दृष्टि (वस्तुस्वरूप के निर्णय की दृष्टि) से हमारी गति संक्षेप की ओर होती है। पर यह साधारण जनता के लिए बुद्धि-गम्य नहीं होता, तब फिर संक्षेप से विस्तार की ओर गति होती है। ज्ञानमय और चरित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपों में बंट जाता है—ज्ञान और चरित्र [६]।

ज्ञान के दो पहलू होते हैं—रुचि और जानकारी। सत्य की रुचि हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी उसका स्वीकरण हो सकता है।

इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—(१) रुचि, (श्रद्धा या दर्शन) (२) ज्ञान (३) चरित्र।

चरित्र के दो प्रकार हैं :—

(१) संवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)

(२) तपस्या या निर्जरा (अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन) इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्र-धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—

(१) क्षमा	(५) लाघव	(९) धर्म-दान
(२) मुक्ति	(६) सत्य	(१०) ब्रह्मचर्य
(३) आर्जव	(७) संयम	
(४) मार्दव	(८) त्याग	

इनमें सर्वाधिक प्रयोजकता रत्न-त्रयी—ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा या रुचि,

और चरित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष-मार्ग) की आराधना करने वाला ही सर्वाराधक या मोक्ष-गामी है।

सम्यक् संप्रयोग

ज्ञान, दर्शन और चरित्र का त्रिवेणी-संगम प्राणीमात्र में होता है। पर उससे साध्य सिद्ध नहीं बनता। साध्य-सिद्धि के लिए केवल त्रिवेणी का संगम ही पर्याप्त नहीं है। पर्याप्ति (पूर्णता) का दूसरा पण (शर्त) है यथार्थता। ये तीनों यथार्थ (तथाभूत) और अयथार्थ (अतथाभूत) दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस्-साधना की समग्रता अयथार्थ ज्ञान, दर्शन, चरित्र से नहीं होती। इसलिए इनके पीछे सम्यक् शब्द और जोड़ा गया। सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चरित्र—मोक्ष-मार्ग हैं [७]।

पौर्वापर्य

साधना और पूर्णता (स्वरूप-विकास के उत्कर्ष) की दृष्टि से सम्यग्-दर्शन का स्थान पहला है, सम्यग्-ज्ञान का दूसरा और सम्यग्-चरित्र का तीसरा है।

साधना-क्रम

दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता [८]।

स्वरूप-विकास-क्रम

सम्यग्-दर्शन का पूर्ण विकास 'चतुर्थ गुण-स्थान' (आरोह क्रम की पहली भूमिका) में भी हो सकता है। अगर यहाँ न हो तो बारहवें गुणस्थान (आरोह क्रम की आठवीं भूमिका—क्षीणमोह) की प्राप्ति से पहले तो हो ही जाता है।

सम्यग् ज्ञान का पूर्ण विकास तेरहवें और सम्यक् चरित्र का पूर्ण विकास चौदहवें गुणस्थान में होता है। ये तीनों पूर्ण होते हैं और साध्य मिल जाता है—आत्मा कर्ममुक्त हो परम-आत्मा बन जाता है।

सम्यक्त्व

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और संस्थान को ज्ञेय दृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु की ज्ञेय, हेय और उपादेय

दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहि-र्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन। स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलों से ढका होता है। तब (सही नहीं होता इसलिए) वह मिथ्या-दर्शन (विपरीत दर्शन) कहलाता है। तीव्र कषाय के (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व-मोह, मिथ्यात्व-मोह और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोह के पुद्गल-विजातीय द्रव्य का विपाक) उदय रहते हुए अन्तर्-दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा 'सम्यक्त्व' है। यह अन्तर्-दर्शन का कारण है। वस्तु को जान लेना मात्र अन्तर्-दर्शन नहीं, वह आत्मिक शुद्धि की अभिव्यक्ति है। यही सम्यक्-दर्शन (यथार्थ-दर्शन)—अविपरीत-दर्शन, सही दृष्टि, सत्य रुचि, सत्याभिमुखता, अन्-अभिनिवेश, तत्त्व-श्रद्धा, यथावस्थित वस्तु परिज्ञान है। सम्यक्त्व और सम्यग्-दर्शन में कार्य-कारणभाव है। सत्य के प्रति आस्था होने की क्षमता को मोह परमाणु विकृत न कर सकें, उतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति जो है, वह 'सम्यक्त्व' है। यह केवल आत्मिक स्थिति है। सम्यग्-दर्शन इसका ज्ञान-सापेक्ष परिणाम है। उपचार-दृष्टि से सम्यग्-दर्शन को भी सम्यक्त्व कहा जाता है[१]।

मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन

मिथ्यात्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का विपर्यय और सम्यक्त्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का अविपर्यय है।

विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में धर्म संज्ञा।

२—धर्म में अधर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में मार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में अमार्ग संज्ञा।

५—अजीव में जीव संज्ञा।

६—जीव में अजीव संज्ञा।

७—असाधु में साधु संज्ञा।

८—साधु में असाधु संज्ञा।

९—अमुक्त में मुक्त संज्ञा।

१०—मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

इसी प्रकार सम्यक्-तत्व-श्रद्धा के भी दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में अधर्म संज्ञा।

२—धर्म में धर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में अमार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में मार्ग संज्ञा।

५—अजीव में अजीव संज्ञा।

६—जीव में जीव संज्ञा

७—असाधु में असाधु संज्ञा।

८—साधु में साधु संज्ञा।

९—अमुक्त में अमुक्त संज्ञा।

१०—मुक्त में मुक्त संज्ञा।

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु-असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म, अधर्म, मार्ग, अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त, अमुक्त का संज्ञान साध्य-असाध्य का विवेक है।

ज्ञान और सम्यग् दर्शन का भेद

सम्यग्-दर्शन-तत्त्व-रुचि है और सम्यग्-ज्ञान उसका कारण है [१०]। पदार्थ-विज्ञान तत्त्व-रुचि के बिना भी हो सकता है, मोह-दशा में हो सकता है, किन्तु तत्त्व-रुचि मोह-परमाणुओं की तीव्र परिपाक-दशा में नहीं होती।

तत्त्व रुचि का अर्थ है आत्माभिमुखता, आत्म-विनिश्चय अथवा आत्म-विनिश्चय का प्रयोजक पदार्थ-विज्ञान।

ज्ञान-शक्ति आत्मा की अनावरण-दशा का परिणाम है। इसलिए वह सिर्फ पदार्थाभिमुखी या ज्ञेयाभिमुखी वृत्ति है। दर्शन-शक्ति अनावरण और अमोह दोनों का संयुक्त परिणाम है। इसलिए वह साध्याभिमुखी या आत्माभिमुखी वृत्ति है।

दर्शन के प्रकार

एकविध दर्शन—

सामान्यवृत्त्या दर्शन एक है [११]। आत्मा का जो तत्त्व-श्रद्धात्मक परिणाम है, वह दर्शन (दृष्टि, रुचि, अभिप्रीति, श्रद्धा) है। उपाधि-भेद से वह अनेक प्रकार का होता है। फिर भी सब में श्रद्धा की व्याप्ति समान होती है। इसलिए निरुपाधिक वृत्ति या श्रद्धा की अपेक्षा वह एक है। एक समय में एक व्यक्ति को एक ही कोटी की श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से भी वह एक है।

त्रिविध दर्शन :—

श्रद्धा का सामान्य रूप एक है—यह अभेद-बुद्धि है, श्रद्धा का सामान्य निरूपण है। व्यवहार जगत् में वह एक नहीं है। वह सही भी होती है और गलत भी। इसलिए वह द्विरूप है—(१) सम्यग्-दर्शन (२) मिथ्या-दर्शन [१२]। ये दोनों भेद तत्त्वोपाधिक हैं। श्रद्धा अपने आपमें सत्य या असत्य नहीं होती। तत्त्व भी अपने आपमें सत्य-असत्य का विकल्प नहीं रखता। तत्त्व और श्रद्धा का सम्बन्ध होता है तब 'तत्त्व-श्रद्धा' ऐसा प्रयोग बनता है। तब यह विकल्प खड़ा होता है—श्रद्धा सत्य है या असत्य ? यही श्रद्धा की द्विरूपता का आधार है। तत्त्व की यथार्थता का दर्शन या दृष्टि है अथवा तत्त्व की यथार्थता में जो रुचि या विश्वास है, वह श्रद्धा सम्यक् है। तत्त्व का अयथार्थ दर्शन, अयथार्थ रुचि या प्रतीति है, वह श्रद्धा मिथ्या है। तत्त्व-दर्शन का तीसरा प्रकार यथार्थता और अयथार्थता के बीच का होता है। तत्त्व का अमुक स्वरूप यथार्थ है और अमुक नहीं—ऐसी दोलायमान वृत्ति वाली श्रद्धा सम्यग् मिथ्या है। इसमें यथार्थता और अयथार्थता दोनों का स्पर्श होता है, किन्तु निर्णय किसी का भी नहीं जमता। इसलिए यह मिश्र है। इस प्रकार तत्त्वोपाधिकता से श्रद्धा के तीन रूप बनते हैं—(१) सम्यक्-दर्शन (सम्यक्त्व) (२) मिथ्या-दर्शन) (मिथ्यात्व) (३) सम्यक्-मिथ्या-दर्शन (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व)।

पंचविध दर्शन—

(१) औपशमिक

(२) क्षायौपशमिक

(३) क्षायिक

(४) सास्वादन

(५) वेदक

आत्मा पर आठ प्रकार के सूक्ष्मतम विजातीय द्रव्यों (पुद्‌गल वर्गणाओं) का मलावलेप लगा रहता है [१३]। उनमें कोई आत्म-शक्ति के आवारक हैं, कोई विकारक, कोई निरोधक और कोई पुद्‌गल-संयोगकारक। चतुर्थ प्रकार का विजातीय द्रव्य आत्मा को मूढ़ बनाता है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मोह' है। मूढ़ता दो प्रकार की होती है—(१) तत्त्व-मूढ़ता (२) चरित्र-मूढ़ता [१४]। तत्त्व-मूढ़ता पैदा करने वाले सम्मोहक परमाणुओं की संज्ञा दर्शन-मोह है [१५]। वे विकारी होते हैं तब सम्यक्-मिथ्यात्व (संशयशील दशा) प्रगट होता है [१६]। उनके अविकारी बन[१७] जाने पर सम्यक्त्व प्रगट होता है [१८]। उनका पूर्ण शमन हो जाने पर विशुद्धतर स्वल्पकालिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [१९]। उनका पूर्ण क्षय (आत्मा से सर्वथा विसम्बन्ध या वियोग) होने से विशुद्धतम और शाश्वतिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [२०]। यही सम्यक्त्व का मौलिक रूप है। पूर्व रूपों की तुलना में इसे सम्यक्त्व का पूर्ण विकास या पूर्णता भी कहा जा सकता है। इस सम्मोहन पैदा करने वाले विजातीय द्रव्यों (पुद्‌गलों) का स्वीकरण या अविशोधन, अर्ध-शुद्धीकरण, विशुद्धीकरण, उपशमन और विलयन—ये सब आत्मा के अशुद्ध और शुद्ध प्रयत्न के द्वारा होते हैं। इनके स्वीकरण या अविशोधन के हेतुओं की जानकारी के लिए कर्म-बन्ध के कारण सास्वादन-अपक्रान्तिकालीन सम्यक्-दर्शन होता है [२१]। वेदक-दर्शन-सम्मोहक परमाणुओं के क्षीण होने का पहला समय जो है, वह वेदक-सम्यग्-दर्शन है। इस काल में उन परमाणुओं का एकवारगी वेद होता है। उसके बाद वे सब आत्मा से विलग हो जाते हैं। यह आत्मा की दर्शन-मोह-मुक्ति-दशा (क्षायिक-सम्यक्-भाव की प्राप्ति-दशा) है। इसके बाद आत्मा फिर कभी दर्शन-मूढ़ नहीं बनता।

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के हेतु

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होने से होती है। इस दृष्टि का प्राप्ति-हेतु दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय है। यह (विलय) निसर्गजन्य और ज्ञान-जन्य दोनों प्रकार का होता है। आचरण की शुद्धि होते-होते दर्शन-मोह के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। वैसा होने पर जो तत्त्व-रुचि पैदा होती है, यथार्थ-दर्शन होता है, वह नैसर्गिक-सम्यग्-दर्शन कहलाता है।

श्रवण, अध्ययन, वाचन या उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण होता है, वह आधिगमिक सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का मुख्य हेतु (दर्शन-मोह विलय) दोनों में समान है। इनका भेद सिर्फ बाहरी प्रक्रिया से होता है। इनकी तुलना सहज प्रतिभा और अभ्यासलब्ध ज्ञान से की जा सकती है।

पंचविध सम्यग् दर्शन दोनों प्रकार का होता है। इस दृष्टि से वह दसविध हो जाता है:—

(१-२)	नैसर्गिक	और	आधिगमिक	औपशमिक	सम्यग्	दर्शन
(३-४)	,,	,,	,,	क्षायौपशमिक	,,	,,
(५-६)	,,	,,	,,	क्षायिक	,,	,,
(७-८)	,,	,,	,,	सास्वाद	,,	,,
(९-१०)	,,	,,	,,	वेदक	,,	,,

दसविध रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण हैं, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता है—यह भी माना गया है। इनमें पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टि-बिन्दु से रुचि या सम्मक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपंच जो है, वह सिर्फ

उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी बाहरी निमित्त के विना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो बाहरी निमित्त (उपदेश-अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है। इसलिए सम्यक् दर्शन (अविपरीत दर्शन) के विना ज्ञान भी सम्यक्—(अविपरीत) नहीं होता। जहाँ मिथ्या-दर्शन वहाँ मिथ्या ज्ञान और जहाँ सम्य् दर्शन वहाँ सम्यक् ज्ञान—ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता। उसमें पौर्वापर्य नहीं है। वास्तविक कार्य-कारण-भाव भी नहीं है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण और दर्शन का कारण दर्शन-मोह का विलय है। इसमें साहचर्य-भाव है। इस (साहचर्य-भाव) में प्रधानता दर्शन की है। दृष्टि का मिथ्यात्व ज्ञान के सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है।

मिथ्या-दृष्टि के रहते बुद्धि में सम्यग् भाव नहीं आता। यह प्रतिबन्ध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि-शुद्धि श्रद्धा-पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। बुद्धि-शुद्धि ज्ञान-पक्ष है। उसकी मर्यादा है—सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण-पक्ष है। उसका विषय है—सत्य का आचरण। तीनों मर्यादित हैं, इसलिए असहाय हैं। केवल रुचि या आस्था-बन्ध होने मात्र से जानकारी नहीं होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। केवल जानने मात्र से साध्य नहीं मिलता। इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। संक्षेप में रुचि ज्ञान-सापेक्ष है और ज्ञान क्रिया-सापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनों रुचि-सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है। इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा तोड़ा नहीं जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष-दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति में कहा जा सकता है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढ़ता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों आपस में सहयोगी, पोषक व उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए हैं[२२]—

(१) निसर्ग-रुचि,
(२) अधिगम-रुचि,
(३) आज्ञा-रुचि,
(४) सूत्र-रुचि,
(५) बीज-रुचि,
(६) अभिगम-रुचि,
(७) विस्तार-रुचि,
(८) क्रिया-रुचि,
(९) संक्षेप-रुचि,
(१०) धर्म रुचि।

(१) जिस व्यक्ति की वीतराग प्ररूपित चार तथ्यों—(१) बन्ध (२) बन्ध-हेतु (३) मोक्ष (४) मोक्ष-हेतु पर अथवा (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव—इन चार दृष्टि-विन्दुओं द्वारा उन पर सहज श्रद्धा होती है, वह निसर्ग-रुचि है।

(२) सत्य की वह श्रद्धा जो दूसरों के उपदेश से मिलती है, वह अधिगम रुचि या उपदेश-रुचि है।

(३) जिसमें राग, द्वेष, मोह, अज्ञान की कमी होती है और दुराग्रह से दूर रहने के कारण वीतराग की आज्ञा को सहज स्वीकार करता है, उसकी श्रद्धा आज्ञा-रुचि है।

(४) सूत्र पढ़ने से जिसे श्रद्धा-लाभ होता है, वह सूत्र-रुचि है।

(५) थोड़ा जानने मात्र से जो रुचि फैल जाती है, वह बीज-रुचि है।

(६) अर्थ सहित विशाल श्रुत-राशि को पाने की श्रद्धा अभिगम-रुचि है।

(७) सत्य के सब पहलुओं को पकड़ने वाली सर्वांगीण दृष्टि विस्तार-रुचि है।

(८) क्रिया—आचार की निष्ठा क्रिया-रुचि है।

(९) जो व्यक्ति असत्-मतवाद में फंसा हुआ भी नहीं है और सत्य-वाद में विशारद भी नहीं है उसकी सम्यग्‌दृष्टि को संक्षेप-रुचि कहा जाता है।

(१०) धर्म (श्रुत और चारित्र) में जो आस्था-बन्ध होता है, वह धर्म-रुचि है।

प्राणी मात्र में मिलने वाले योग्यता के तरतमभाव और उनके कारण होनेवाले रुचि-वैचित्र्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है।

सम्यग् दर्शन का प्राप्ति-क्रम और लब्धि-प्रक्रिया

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं :—दर्शन-मोह के परमाणुओं का (१) पूर्ण उपशमन, (२) अपूर्ण विलय (३) पूर्ण विलय। इनसे प्रगट होने वाला सम्यग् दर्शन क्रमशः (१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायौपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिक सम्यक्त्व—कहलाता है। इनका प्राप्ति-क्रम निश्चित नहीं है। प्राप्ति का पौर्वापर्य भी नहीं है। पहले पहल औपशमिक—सम्यग् दर्शन भी हो सकता है। क्षायौपशमिक भी और क्षायिक भी।

अनादि मिथ्या दृष्टि व्यक्ति (जो कभी भी सम्यग् दर्शनी नहीं बना) अज्ञात कष्ट सहते-सहते कुछ उदयाभिमुख होता है, संसार-परावर्तन की मर्यादा सीमित रह जाती है, कर्मावरण कुछ क्षीण होता है, दुःखाभिघात से संतप्त हो सुख की ओर मुड़ना चाहता है, तब उसे आत्म-जागरण की एक स्पष्ट रेखा मिलती है। उसके परिणामों (विचारों) में एक तीव्र आन्दोलन शुरू होता है। पहले चरण में राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि (जिसे तोड़े बिना सम्यग् दर्शन प्रगट नहीं होता) के समीप पहुँचता है। दूसरे चरण में वह उसे तोड़ने का प्रयत्न करता है। विशुद्ध परिणाम वाला प्राणी वहाँ मिथ्यात्वग्रन्थि के घटक पुद्गलों का शोधन कर उनकी मादकता या मोहकता को निष्प्रभ बना क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शनी बन जाता है। मन्दविशुद्ध परिणाम वाला व्यक्ति वैसा नहीं कर सकता। वह आगे चलता है। तीसरे चरण में पहुँच मिथ्यात्व मोह के परमाणुओं को दो भागों में विभक्त कर डालता है[२३]। पहला भाग अल्प कालवेद्य और दूसरा बहु-कालवेद्य (अल्प स्थितिक और दीर्घ स्थितिक) होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों स्थितियों के बीच में व्यवधान (अन्तर) हो जाता है। पहला पुञ्ज भोग लिया जाता है। (उदीरणा द्वारा शीघ्र उदय में आ नष्ट हो जाता है) दूसरा पुञ्ज उपशान्त (निरूद्ध-उदय) रहता है। ऐसा होने पर चौथे चरण में (अन्तर-करण के पहले समय में) औपशमिक सम्यग् दर्शन प्रगट होता है[२४]।

यथा प्रवृति :—

अनादि काल से जैसी प्रवृति है वैसी की वैसी बनी रहे वह 'यथा प्रवृति' है। संसार का मूल मोह-कर्म है। उसके वेद्य परमाणु दीर्घ-स्थितिक होते हैं,

तबतक 'यथाप्रवृत्ति' करण से आगे गति नहीं होती। अकाम-निर्जरा तथा भवस्थिति के परिपाक होने से कषाय मन्द होता है। मोह-कर्म की स्थिति देशोन क्रोड़ाक्रोड़ सागर जितनी रहती है, आयुवर्जित शेष कर्मों की भी इतनी ही रहती है, तब परिणाम-शुद्धि का क्रम आगे बढ़ता है। फल स्वरूप 'अपूर्व करण' होता है—पहले कभी नहीं हुई, वैसी आत्म-दर्शन की प्रेरणा होती है। किन्तु इसमें आत्म-दर्शन नहीं होता। यह धारा और आगे बढ़ती है—अनिवृत्तिकरण होता है। यह फल-प्राप्ति के बिना निवृत्त नहीं होता। इसमें आत्म-दर्शन हो जाता है।

मार्ग लाभ

पथिक चला। मार्ग हाथ नहीं लगा। इधर-उधर भटकता रहा। आखिर अपने आप पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक मार्ग-लाभ है।

दूसरा पथभ्रष्ट व्यक्ति इधर उधर भटकता रहा, मार्ग नहीं मिला। इतने में दूसरा व्यक्ति दीखा। उससे पूछा और मार्ग मिल गया। यह आधिगमिक मार्ग-लाभ है।

आरोग्य लाभ

रोग हुआ। दवा नहीं ली। रोग की स्थिति पकी। वह मिट गया। आरोग्य हुआ। यह नैसर्गिक आरोग्य-लाभ है।

रोग हुआ। सहा नहीं गया। वैद्य के पास गया। दवा ली, वह मिट गया। यह प्रायोगिक आरोग्य-लाभ है।

सम्यग् दर्शन-लाभ

अनादि काल से जीव संसार में भ्रमण करता रहा। सम्यग्-दर्शन नहीं हुआ—आत्म-विकास का मार्ग नहीं मिला। संसार-भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल बनता है, वैसे थपेड़े खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

कष्टों से तिलमिला उठा। त्रिविध ताप से संतप्त हो गया। शान्ति का उपाय नहीं सूझा। मार्ग-द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

अन्तर् मुहूर्त्त के बाद

औपशमिक सम्यग् दर्शन अल्पकालीन (अन्तर्मुहूर्त्त स्थितिक) होता है। दवा हुआ रोग फिर से उभर आता है। अन्तर् मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किए हुए दर्शन-मोह के परमाणु काल-मर्यादा पूर्ण होते ही फिर सक्रिय बन जाते हैं। थोड़े समय के लिए जो सम्यग् दर्शनी बना, वह फिर मिथ्या-दर्शनी बन जाता है। रोग के परमाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए स्वस्थ बन जाता है। उनका शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता। किन्तु उन्हें दवाये रखने वाला हरदम खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी इस तीसरी कोटि का होता है। औपशमिक सम्यग् दर्शन के बारे में दो परम्पराएं हैं—(१) सैद्धान्तिक और (२) कर्म-ग्रन्थिक। सिद्धान्त-पक्ष की मान्यता यह है कि क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शन पाने वाला व्यक्ति ही अपूर्व करण में दर्शन-मोह के परमाणुओं का त्रि-पुञ्जीकरण करता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी औपशमिक सम्यग् दर्शन से गिरकर मिथ्या दर्शनी होता है।

कर्मग्रन्थ का पक्ष है—अनादिमिथ्या दृष्टि अन्तर-करण में औपशमिक-सम्यग् दर्शन या दर्शन-मोह के परमाणुओं को त्रि-पुञ्जीकृत करता है। उस आन्तर् मौहूर्तिक सम्यग् दर्शन के बाद जो पुञ्ज अधिक प्रभावशाली होता है, वह उसे प्रभावित करता है। (जिस पुञ्ज का उदय होता है, उसी दशा में वह चला जाता है) अशुद्ध पुञ्ज के प्रभावकाल (उदय) में वह मिथ्या-दर्शनी, अर्ध-विशुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् मिथ्या दर्शनी और शुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् दर्शनी बन जाता है।

सिद्धान्त-पक्ष में पहले क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—ऐसी मान्यता है। कर्म-ग्रन्थ पक्ष में पहले औपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—यह माना जाता है।

कई आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते हैं। कई आचार्य क्षायिक-सम्यक् दर्शन भी पहले-पहल प्राप्त होता है—ऐसा मानते हैं। सम्यग् दर्शन का आदि-अनन्त विकल्प इसका आधार है।

क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शनी (अपूर्व करण में) ग्रन्थि भेद कर मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं को तीन पुंजों में बांट देता हैं :—

(१) अशुद्ध पुञ्ज—यह पूर्ण आवरण है।

(२) अर्द्धशुद्ध पुञ्ज—यह अर्धावरण है।

(३) शुद्ध पुञ्ज—यह पारदर्शक है।

तीन पुञ्ज

(१) मैला कपड़ा, कोरे जल से धुला कपड़ा और साबुन से धुला कपड़ा।

(२) मैला जल, थोड़ा स्वच्छ जल और स्वच्छ जल।

(३) मादक द्रव्य, अर्ध-शोधित मादक द्रव्य और पूर्ण-शोधित मादक द्रव्य।

जैसे एक ही वस्तु की ये तीन-तीन दशाएं हैं, वैसे ही दर्शन-मोह के परमाणुओं की भी तीन दशाएं होती हैं। आत्मा का परिणाम अशुद्ध होता है, तब वे परमाणु एक पुञ्ज में ही रहते हैं। उनकी मादकता सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाए रखती है। यह मिथ्यात्व-दशा है। आत्मा का परिणाम कुछ शुद्ध होता है (मोह की गांठ कुछ ढीली पड़ती है) तब उन परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है—(१) अशुद्ध (२) अर्ध शुद्ध। दूसरे पुञ्ज में मादकता का लोहावरण कुछ टूटता है, उसमें सम्यग् दर्शन की कुछ पारदर्शक रेखाएं खिंच जाती हैं। यह सम्यग् मिथ्यात्व (मिश्र) दशा है।

आत्मा का परिणाम शुद्ध होता है, उन परमाणुओं की मादकता धो डालने में पूर्ण होता है, तब उनके तीन पुञ्ज बनते हैं। तीसरा पुञ्ज शुद्ध होता है।

क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शनी पहले दो पुञ्जों को निष्क्रिय बना देता है [२५]। तीसरे पुञ्ज का उदय रहता है, पर वह शोधित होने के कारण शक्ति-हीन बना रहता है। इसलिए यथार्थ दर्शन में बाधा नहीं डालता। मैले अभ्रक या काच में रही हुई बिजली या दीपक पार की वस्तु को प्रकाशित नहीं करती। उन्हें साफ कर दिया जाए, फिर वे उनके प्रकाश-प्रसरण में बाधक नहीं बनते। वैसे ही शुद्ध पुञ्ज सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाने वाले परमाणु हैं। किन्तु परिणाम-

शुद्धि के द्वारा उनकी मोहक-शक्ति का मालिन्य धुल जाने के कारण वे आत्म-दर्शन में सम्मोह पैदा नहीं कर सकते।

क्षायिक-सम्यक्त्वी दर्शन-मोह के परमाणुओं को पूर्ण रूपेण नष्ट कर डालता है। वहाँ इनका अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। यह वास्तविक या सर्व-विशुद्ध सम्यग् दर्शन है। पहले दोनों (औपशमिक और क्षायौपशमिक) प्रतिघाती हैं, पर अप्रतिपाती हैं।

मिथ्या दर्शन के तीन रूप

काल की दृष्टि से मिथ्या दर्शन के तीन विकल्प होते हैं :—

(१) अनादि अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि-सान्त।

(१) कभी सम्यग् दर्शन नहीं पाने वाले (अभव्य या जाति भव्य) जीवों की अपेक्षा मिथ्या दर्शन अनादि-अनन्त हैं।

(२) पहली बार सम्यग् दर्शन प्रगट हुआ, उसकी अपेक्षा यह अनादि-सान्त है।

(३) प्रतिपाति सम्यग् दर्शन (सम्यग् दर्शन आया और चला गया) की अपेक्षा वह सादि-सान्त है।

सम्यग् दर्शन के दो रूप

सम्यग् दर्शन के सिर्फ दो विकल्प बनते हैं :

(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त। प्रतिपाति (औपशमिक और क्षायौपशमिक) सम्यग् दर्शन सादि-सान्त हैं। अप्रतिपाति (क्षायिक)—सम्यग्-दर्शन सादि-अनन्त होता है।

मिथ्या दर्शनी एक बार सम्यग् दर्शनी बनने के बाद फिर से मिथ्या दर्शनी बन जाता है। किन्तु अनन्त काल की असीम मर्यादा तक वह मिथ्या दर्शनी ही बना नहीं रहता है, इसलिए मिथ्या दर्शन सादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन सहज नहीं होता। वह विकास-दशा में प्राप्त होता है, इसलिए वह अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज

(१) क्षायिक सम्यग् दर्शनी अपुञ्जी होता है। उसके दर्शन-मोह के

परमाणुओं का पुञ्ज होता ही नहीं। यह क्षपक (उनको खपाने वाला—नष्ट करने वाला) होता है।

(२) मिथ्या दर्शनी एक पुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणु उसे सघन रूप में प्रभावित किये रहते हैं।

(३) सम्यग् मिथ्या दर्शनी द्विपुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का शोधन करने चल पड़ता है। किन्तु पूरा नहीं कर पाता, यह उस समय की दशा है।

(४) क्षायोपशमिक-सम्यक् दर्शनी त्रिपुंजी होता है। प्रकारान्तर से मिथ्यात्व मोह के परमाणु क्षीण नहीं होते, उसी दशा में सम्यग् दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग् दृष्टि) त्रिपुञ्जी होता है। मिथ्यात्व पुञ्ज के क्षीण होने पर वह द्विपुञ्जी, मिश्र पुञ्ज के क्षीण होने पर एक पुञ्जी और सम्यक्त्व-पुञ्ज के क्षीण होने पर अपुञ्जी (क्षायिक सम्यग् दृष्टि) बन जाता है।

मिश्र-पुञ्ज संक्रम

दर्शन-मोह के परमाणुओं का पुञ्जीकरण, उनका उदय और संक्रमण परिणाम-धारा की अशुद्धि, अशुद्धि-अल्पता और शुद्धि पर निर्भर है।

परिणाम शुद्ध होते हैं मोह का दबाव ढीला पड़ जाता है। तब शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम कुछ शुद्ध होते हैं (मोह का दबाव कुछ ढीला पड़ता है) तब अर्ध-शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम अशुद्ध होते हैं (मोह का दबाव तीव्र होता है) तब अशुद्ध-पुञ्ज का उदय रहता है।

मिथ्यात्व परमाणुओं की त्रिपुञ्जीकृत अवस्था में जिस पुञ्ज की प्रेरक परिणाम-धारा का प्राबल्य होता है, वह दूसरे को अपने में संक्रान्त कर लेती है। सम्यग् दृष्टि शुद्धि की जागरणोन्मुख परिणाम-धारा के द्वारा मिथ्यात्व पुञ्ज को मिश्र पुञ्ज में और जागृत परिणाम-धारा के द्वारा उसे सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व पुञ्ज का संक्रमण मिश्र पुञ्ज और सम्यक्त्व पुञ्ज दोनों में होता है।

मिश्र पुञ्ज का संक्रमण मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन दोनों पुञ्जों में होता है। मिथ्या दृष्टि सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज को मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। सम्यक्त्वी उसको सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। मिश्र-दृष्टि

मिथ्यात्व पुञ्ज को सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त कर सकता है। पर सम्यक्त्व पुञ्ज को उसमें संक्रान्त नहीं कर सकता।

व्यावहारिक-सम्यग् दर्शन

सम्यग् दर्शन का सिद्धान्त सम्प्रदाय परक नहीं, आत्मपरक है। आत्मा अमुक मर्यादा तक मोह के परमाणुओं से विमुक्त हो जाती है, तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी चतुष्क) रहित हो जाती है, तब उसमें आत्मोन्मुखता (आत्म-दर्शन की प्रवृत्ति) का भाव जाग्रत होता है। यथार्थ में वह (आत्म-दर्शन) ही सम्यग् दर्शन है। जिसे एक का सम्यग् दर्शन होता है, उसे सबका सम्यग् दर्शन होता है। आत्मदर्शी समदर्शी हो जाता है और इसलिए वह सम्यक् दर्शी होता है। यह निश्चय-दृष्टि की बात है और यह आत्मानुमेय या स्वानुभवगम्य है। सम्यग् दर्शन का व्यावहारिक रूप तत्त्व श्रद्धान है [२६]।

सम्यग् दर्शी का संकल्प

कषाय की मन्दता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर अज्ञान से ज्ञान की ओर अक्रिया से क्रिया की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्व मुखी और आत्मलक्षी हो जाता है [२७]।

व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की स्वीकार-विधि

लोक में चार मंगल हैं (१) अरिहन्त[२८] (२) सिद्ध[२९] (३) साधु (४) केवली भाषित धर्म [३०]।

चार लोकोत्तम हैं—(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) साधु (४) केवली-भाषित धर्म।

चार शरण्य हैं—मैं (१) अरिहन्त की शरण लेता हूँ (२) सिद्ध की शरण लेता हूँ। (३) साधु की शरण लेता हूँ (४) केवली भाषित धर्म की शरण लेता हूँ [३१]। जिसमें अरिहन्त देव, सुसाधु-गुरु और तत्त्व-धर्म की यथार्थ श्रद्धा है, उस सम्यक्त्व को मैं यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ [३२]। यह दर्शन-पुरुष के व्यावहारिक सम्यग् दर्शन के स्वीकार की विधि है [३३]। इसमें उसके सत्य संकल्प का ही स्थिरीकरण है।

दर्शन-बुद्ध के लिए साधना, साधक और सिद्ध से बढ़कर कोई सत्य नहीं होता [३४]। इसलिए वह उन्हीं को 'मंगल' लोकोत्तम मानता है और उन्हीं की शरण स्वीकार करता है। यह व्यक्ति की आस्था या व्यक्तिवाद नहीं, किन्तु गुणवाद है।

आचार और अतिचार

सम्यग् दर्शन में पोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यग् दर्शन का स्वरूप नहीं है।

सम्यग् दर्शन के आचार आठ हैं[३५]—

(१) निःशंकित······सत्य में निश्चित विश्वास।

(२) निःकांक्षित······मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।

(३) निर्विचिकित्सा······सत्याचरण के फल में विश्वास।

(४) अमूढ़-दृष्टि···:::::···असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।

(५) उपबृंहण·········:::आत्म-गुण की वृद्धि।

(६) स्थिरीकरण·········सत्य से डगमगा जाए, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।

(७) वात्सल्य············सत्य धर्मों के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।

(८) प्रभावना·········:::प्रभावकढंग से सत्य के महात्म्य का प्रकाशन।

पांच अतिचार

(१) शंका···सत्य में संदेह।

(२) काङ्क्षा···मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा।

(३) विचिकित्सा···सत्याचरण की फल-प्राप्ति में संदेह।

(४) परपाखण्ड-प्रशंसा···इतर सम्प्रदाय की प्रशंसा।

(५) परपाषण्ड-संस्तव···इतर सम्प्रदाय का परिचय।

सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहिचान

सम्यग् दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। फिर भी उसकी पहिचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण बतलाए हैं।

सम्यक्त्व श्रद्धा के तीन लक्षण [३६] :—

(१) परमार्थ संस्तव…परम सत्य के अन्वेषण की रुचि।

(२) सुदृढ़ परमार्थ सेवन…परम सत्य के उपासक का संसर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

(३) कुदर्शन वर्जना—कुमार्ग से दूर रहने की दृढ़ आस्था।

सत्यान्वेषी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना सकता है कि वह सम्यग् दर्शन-पुरुष है।

पांच लक्षण

(१) शम…कषाय उपशमन

(२) संवेग…मोक्ष की अभिलाषा

(३) निर्वेद…संसार से विरक्ति

(४) अनुकम्पा…प्राणीमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूत मैत्री-आत्मौपम्यभाव।

(५) आस्तिक्य…आत्मा में निष्ठा।

सम्यक् दर्शन का फल

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?

भगवान्—गौतम! दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तर-ज्ञान धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग् दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बन्ध नहीं करता [३७]।

महत्त्व

भगवान् महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी सम्पदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैन धर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जाति-मद से मदोन्मत्त बने लोग समान धर्मी भाइ-

यों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य समन्त भद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा है—"जो धार्मिक व्यक्ति अष्टमद (१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) श्रुत (६) तप (७) ऐश्वर्य (८) लाभ से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्म-धर्म का अनादर करता है। सम्यग् दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग् दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है[३८]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है :—

वे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जिनके घट में सम्यकत्व रम रहा हो। जिस के हृदय में सम्यकत्व-सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अन्धकार चला जाता है।

सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चन्दन नहीं होता, रत्न-राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प 'मणिधर' नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष शक्ति) के धारक नहीं होते, बन्धन-मुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह 'केसरी' नहीं होते, सभी साधु 'साधु' नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यक्त्वी नहीं होते।

नव-तत्त्व के सही श्रद्धान से मिथ्यात्त्व (१० मिथ्यात्व) का नाश होता है। यही सम्यकत्व का प्रवेश-द्वार है।

सम्यकत्व के आजाने पर श्रावक-धर्म या साधु-धर्म का पालन सहज हो जाता है, कर्म-बन्धन टूटने लगते हैं और वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

तथ्य (भावों ध्रुव सत्यों) की अन्वेषणा, प्राप्ति और प्रतीति जो है, वह सम्यकत्व है, यह व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की परिभाषा है। इसका आधार तत्त्वों की सम्यग्-श्रद्धा है। दर्शन-पुरुष की तत्त्व-श्रद्धा अपने आप सम्यक् हो जाती है। तत्त्व श्रद्धा का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। दर्शन-पुरुष का कषाय मन्द हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।

ध्रुव सत्य

विश्व के सर्व सत्यों का समावेश दो ध्रुव सत्यों—चेतन और अचेतन में होता है। शुद्ध-तत्त्व दृष्टि से चेतन और अचेतन—ये दो ही तत्त्व हैं।

इनके छह भेद विश्व की व्यवस्था जानने के लिए होते हैं। इनके नव भेद आत्म-साधना की साधक-बाधक दशा और साहित्य की मीमांसा के हेतु किए जाते हैं।

जैन दर्शन के ध्रुवसत्य

सम्यग् दर्शन के आधार भूत तत्त्व :—

(१) आत्मा है (२) नित्य है (३) कर्त्ता है (४) भोक्ता है (५) बन्ध है (६) मोक्ष है।

विश्व-स्थिति के आधार भूत तत्त्व :—

(१) पुनर्जन्म – जीव मरकर पुनरपि बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) कर्म-बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर कर्म बाँधते हैं।

(३) मोहनीय कर्म-बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

(४) जीव अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) त्रस-स्थावर—अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि गतिशील प्राणी स्थावर बन जाए। और स्थावर प्राणी गतिशील बन जाए।

(६) लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) लोकालोक अन्योन्याप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(६) लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र लोक है, उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) अलोकगति कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

असम्भाव्य कार्य[३९]

(१) अजीव को जीव नहीं बनाया जा सकता।

(२) जीव को अजीव नहीं बनाया जा सकता।

(३) एक साथ दो भाषा नहीं बोली जा सकती।

(४) अपने किए कर्मों के फलों को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।

(५) परमाणु तोड़ा नहीं जा सकता।

(६) अलोक में नहीं जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं कर सकता [४०]।

(१) धर्म-(गति-तत्त्व)

(२) अधर्म (स्थिति-तत्त्व)

(३) आकाश

(४) शरीर रहित जीव

(५) परमाणु

(६) शब्द

पारमार्थिक सत्ता—

(१) ज्ञाता का सतत अस्तित्व [४१]।

(२) ज्ञेय का स्वतन्त्र अस्तित्व वस्तु-ज्ञान पर निर्भर नहीं है [४२]।

(३) ज्ञाता और ज्ञेय में योग्य सम्बन्ध।

(४) वाणी में ज्ञान का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब—विचारों या लक्ष्यों की अभिव्यक्ति का यथार्थ साधन [४३]।

(५) ज्ञेय (संवेद्य या विषय) और ज्ञातृ (संवित् या विषयी) के समकालीन अस्तित्व, स्वतन्त्र-अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध के कारण उनका विषयविषयीभाव।

चार सिद्धान्त

(१) पदार्थमात्र—परिवर्तनशील है।

(२) सत् का सर्वथा नाश और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।

(३) जीव और पुद्गल में गति-शक्ति होती है।

(४) व्यवस्था वस्तु का मूल भूत स्वभाव है।

इनकी जड़वाद के चार सिद्धान्तों से तुलना कीजिए।

(क) ज्ञाता और ज्ञेय नित्य परिवर्तनशील हैं।

(ख) सद् वस्तु का सम्पूर्ण नाश नहीं होता—पूर्ण अभाव में से सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

(ग) प्रत्येक वस्तु में स्वभाव-सिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तनशक्ति अवश्य रहती है।

(घ) रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तु का मूलभूत स्वभाव है [४४]।

सत्य क्या है

भगवान् ने कहा—सत्य वही है, जो जिन-प्रवेदित है—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा निरूपित है [४५]। यह यथार्थवाद है, सत्य का निरूपण है किन्तु यथार्थता नहीं है—सत्य नहीं है।

जो सत् है, वही सत्य है—जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह सत्य नहीं है। यह अस्तित्व—सत्य, वस्तु-सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा-आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला। अविभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं—स्कन्ध बन

जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक सत्य) नहीं है। परमाणु-दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।

आत्मा शरीर-दशा में अर्ध सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य (शक्ति), अरूप। सरूप (सशरीर) आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है (अर्ध सत्य है)। अरूप (अशरीर, शरीरमुक्त) आत्मा पूर्ण सत्य (परम सत्य या त्रैकालिक सत्य) है। धर्म, अधर्म और आकाश (इन तीनों तत्त्वों का वैभाविक रूपान्तर नहीं होता। ये सदा अपने सहज रूप में ही रहते हैं—इसलिए) पूर्ण सत्य हैं।

साध्य-सत्य

साध्य-सत्य स्वरूप-सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु-सत्य व्यापक है। परमाणु में ज्ञान नहीं होता, अतः उसके लिए कुछ साध्य भी नहीं होता। वह स्वाभाविक काल-मर्यादा के अनुसार कभी स्कन्ध में जुड़ जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा ज्ञानशील पदार्थ है। विभाव-दशा (शरीर-दशा) में स्वभाव (अशरीर-दशा या ज्ञान, आनन्द और वीर्य का पूर्ण प्रकाश) उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह सत्य होता है और उसके मिलने पर (सिद्धि के पश्चात्) वह स्वरूप-सत्य के रूप में बदल जाता है।

साध्य-काल में मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध-सत्य। सिद्धि-दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नहीं होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण-सत्य है (त्रैकालिक है, अपुनरावर्तनीय है)।

जैन-तत्त्व-व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन—ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप-सत्य हैं। गति-हेतुकता, स्थिति-हेतुकता, अवकाश-हेतुकता, परिवर्तन-हेतुकता और ग्रहण (संयोग-वियोग) की अपेक्षा—विभिन्न कार्यों और गुणों की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—अचेतन

के ये पांच रूप (पांच द्रव्य) और जीव, ये छह सत्य हैं। ये विभाग-सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (बन्ध-हेतु), संवर (बन्धन-निरोध) निर्जरा (बन्धन-क्षय हेतु)— ये तीनों साधन-सत्य हैं। मोक्ष साध्य-सत्य है। बन्धन-दशा में आत्मा के ये चारों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में आस्रव भी नहीं होता, संवर भी नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती, साध्यरूप मोक्ष भी नहीं होता, इसलिए वहाँ आत्मा का केवल आत्मरूप ही सत्य है।

आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव-पुद्गल) का सम्बन्ध रहते हुए उसके बन्ध, पुण्य और पाप से तीनों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में बन्धन भी नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता, पाप भी नहीं होता। इसलिए जीव वियुक्त-दशा में केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की संयोग-दशा में नव सत्य हैं। उनकी वियोग-दशा में केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार-नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय-नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

तीन

३५—६४

सम्यग् ज्ञान
रहस्य की खोज
अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद
निरूपण या कथन की विधि
दर्शन
दुःख से सुख की ओर
मोक्ष
पुरुषार्थ
परिवर्तन और विकास
ज्ञान और प्रत्याख्यान
तत्त्व
साधक तत्त्व—संवर
निर्जरा
गूढ़वाद
अक्रियावाद
निर्वाण—मोक्ष
ईश्वर
व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

रहस्य की खोज

हम क्या हैं ? हमें क्या करना है ? हम कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते हैं—जैन दर्शन इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। इसके समाधान के साथ-साथ हमें यह निर्णय भी कर लेना होगा कि जगत् का स्वरूप क्या है और उसमें हमारा क्या स्थान है ?

हमें अपनी जानकारी के लिए आत्मा, धर्म और कर्म की समस्याओं पर विचार करना होगा। आत्मा की स्वाभाविक या विशुद्ध दशा धर्म है—जिसे 'संवर' और 'निर्जरा'—अपूर्ण मुक्ति और पूर्ण मुक्ति कहते हैं। 'संवर' आत्मा की वह दशा है, जिसमें विजातीय तत्त्व-कर्म-पुद्गल का उसके साथ संश्लेष होना छूट जाता है। पहले लगे हुए विजातीय तत्त्व का आत्मा से विश्लेष या विसंबंध होता है, वह दशा है 'निर्जरा'। विजातीय-तत्त्व थोड़ा अलग होता है, वह आंशिक या अपूर्ण निर्जरा होती है। विजातीय-तत्त्व सर्वथा अलग हो जाता है, उसका नाम है मोक्ष।

आत्मा का अपना रूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा बनती है, वह 'वैभाविक' दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं—आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व एक रूप बनता है। इसे बन्ध कहा जाता है। इसके दो रूप हैं—शुभ और अशुभ। शुभ पुद्गल-स्कन्ध (पुण्य) जब आत्मा पर प्रभाव डालते हैं, तब वह मनोज्ञ पुद्गलों की ओर आकृष्ट होती है और उसे पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। अशुभ पुद्गल-स्कन्धों (पाप) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। उससे अप्रिय, अमनोज्ञ भाव बनते हैं। आत्मा में विजातीय तत्त्व के स्वीकरण का जो हेतु है, उसकी संज्ञा 'आस्रव' है। विभाव से स्वभाव में आने के लिए ये तत्त्व उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता के बारे में विचार करना उपयोगितावाद है।

धर्म गति है, गति का हेतु या उपकारक 'धर्म' नामक द्रव्य है। स्थिति है, स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्म' नामक द्रव्य है। आधार है, आधार का हेतु या उपकारक 'आकाश' नामक द्रव्य है। परिवर्तन है, परिवर्तन का हेतु या

उपकारक 'काल' नामक तत्त्व है। जो मूर्त है वह 'पुद्गल' द्रव्य है। जिसमें चैतन्य है वह जीव है। इनकी क्रिया या उपकारों की जो समष्टि है वह जगत् है। यह भी उपयोगितावाद है।

पदार्थों के अस्तित्व के बारे में विचार करना अस्तित्ववाद या वास्तविकवाद कहलाता है। अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थ दो हैं—चेतन और अचेतन।

अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

जैन-परिभाषा में दोनों के लिए एक शब्द है 'द्रव्यानुयोग'। पदार्थ के अस्तित्व और उपयोग पर विचार करने वाला समूचा सिद्धान्त इसमें समा जाता है।

उपयोगिता के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और जागतिक। नव तत्त्व की व्यवस्था आत्म-कल्याण के लक्ष्य से की हुई है, इसलिए यह आध्यात्मिक है। यह आत्म-मुक्ति के साधक, बाधक तत्वों का विचार है। कर्मबद्ध आत्मा को जीव और कर्म-मुक्त आत्मा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष साध्य है। जीव के वहाँ तक पहुँचने में पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव—ये चार तत्त्व बाधक हैं, संवर और निर्जरा—ये दो साधक हैं। अजीव उसका प्रतिपक्षी तत्त्व है।

षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व के सहज-संचलन या सहज-नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह जानकारी हमें इससे मिलती है।

वास्तविकतावाद में पदार्थ के उपयोग पर कोई विचार नहीं होता। सिर्फ उसके अस्तित्व पर ही विचार होता है, इसलिए वह 'पदार्थवाद' या 'आधिभौतिकवाद' कहलाता है।

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोग दोनों के आधार पर हुआ है। अस्तित्व और उपयोग दोनों प्रमाण द्वारा साधे गए हैं। इसलिए प्रमाण, न्याय या तर्क के विकास के आधार भी यही दोनों हैं। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—तर्क्य—हेतु गम्य और अतर्क्य—हेतु-अगम्य। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है—प्रमाण-मीमांसा। तर्क-शास्त्र इससे भिन्न नहीं है। वह ज्ञान-विवेचन का ही

एक अङ्ग है। प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। तर्क-गम्य पदार्थों की जानकारी के लिए जो अनुमान है, वह परोक्ष के पांच रूपों में से एक है।

पूर्व-धारणा की यथार्थ-स्मृति आती है, उसे तर्क द्वारा साधनों की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप सत्य है—प्रमाण है। यथार्थ पहिचान प्रत्यभिज्ञा के लिए भी यही बात है। मैं जब अपने पूर्व परिचित व्यक्ति को साक्षात् पाता हूँ तब मुझे उसे जानने के लिए तर्क आवश्यक नहीं होता।

मैं जिसके यथार्थ ज्ञान और यथार्थ-वाणी का अनुभव कर चुका, उसकी वाणी को प्रमाण मानते समय मुझे हेतु नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा। यथार्थ जानने वाला भी कभी और कहीं भूल कर सकता है—यथार्थ कहने वाला भी कभी और कहीं असत्य बोल सकता है—इस संभावना से यदि मैं उसकी प्रत्येक वाणी को तर्क की कसौटी पर कसे बिना प्रमाण न मानूँ तो वह मेरी भूल होगी। मेरा विश्वासी मुझे ठगना चाहे, वहाँ मेरे लिए वह प्रमाणाभास होगा। किन्तु तर्क का सहारा लिए बिना कहीं भी वह मेरे लिए प्रमाण न बने, यह कैसे माना जाए? यदि यह न हो तो जगत् का अधिकांश व्यवहार ही न चले? व्यवहार में जहाँ व्यावहारिक आप्त की स्थिति है, वहाँ परमार्थ में पारमार्थिक आप्त—वीतराग की। किन्तु तर्क से आगे विश्वास है अवश्य।

आँख से जो मैं देखता हूँ। कान से जो सुनता हूँ, उसके लिए मुझे तर्क नहीं चाहिए।

सत्य आँख और कान से परे भी है। वहाँ तर्क की पहुँच ही नहीं है।

तर्क का क्षेत्र केवल कार्य-कारण की नियमबद्धता, दो वस्तुओं का निश्चित साहचर्य। एक के बाद दूसरे के आने का नियम और व्याप्य में व्यापक के रहने का नियम है। एक शब्द में व्याप्ति है। वह सार्वदिक और सार्वत्रिक होती है। वह अनेक काल और अनेक देश के अनेक व्यक्तियों के समान अनुभव द्वारा सृष्ट नियम है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण-परम्परा से ऊँचा या एकाधिकार स्थान नहीं दिया जा सकता

अतर्क्य आज्ञा-ग्राह्य या आगम-गम्य होता है।

निरूपण या कथन की विधि

निरूपण वस्तु का होता है। वस्तु के जितने रूप होते हैं उतने ही रूप

निरूपण के हो जाते हैं। संक्षेप में वस्तु के दो रूप हैं—आज्ञा-गम्य और हेतु-गम्य। आज्ञा-गम्य पदार्थ को आज्ञा-सिद्ध कहा जाए और हेतु-गम्य पदार्थ को हेतु-सिद्ध, यह कथन-विधि की आराधना है। पदार्थ मात्र को आज्ञा-सिद्ध या हेतु सिद्ध कहा जाए, यह कथन-विधि की विराधना है[१]।

सफल प्ररूपक वही होता है जो हेतु के पक्ष में हेतुवादी और आगम के पक्ष में आगम-वादी रहें[२]।

ज्ञान का फल चारित्र है या यों कहिए कि ज्ञान चारित्र के लिए है। मूल वस्तु सम्यग् दर्शन है जो सम्यग् दर्शनी नहीं, वह ज्ञानी नहीं होता। ज्ञान के बिना चरण गुण नहीं आते। अगुणी को मोक्ष नहीं मिलता मोक्ष के बिना निर्वाण (स्वरूप-लाभ या आत्यन्तिक शान्ति) नहीं होती[३]।

वह ज्ञान मिथ्या है, जो क्रिया या आचरण के लिए न हो। वह तर्क शुष्क है, जो अभिनिवेश के लिए आये। चारित्र से पहले ज्ञान का जो स्थान है, वह चारित्र की विशुद्धि के लिए ही है।

क्रियावाद का निरूपण वही कर सकता है, जो आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, गति-आगति को जानता है, शाश्वत और अशाश्वत को जानता है, जन्म-मृत्यु को जानता है। आस्रव और संवर को जानता है, दुःख और निर्जरा को जानता है[४]।

क्रियावाद शब्द आत्म-दृष्टि का प्रतीक है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। वह संसार-दशा में आवृत रहता है। उसकी शुद्धि के लिए क्रिया या चारित्र है। चारित्र साधन है, साध्य है, आत्म-स्वरूप का प्रादुर्भाव। साध्य की दृष्टि से ज्ञान का स्थान पहला है और चारित्र का दूसरा। साधन की दृष्टि से चारित्र का स्थान पहला है और ज्ञान का दूसरा। जब शुद्धि की प्रक्रिया चलती है, तब साधन की अपेक्षा प्रमुख रहती है। यही कारण है—द्रव्यानु-योग से पहले चरण-करणानुयोग की योजना हुई है।

दर्शन

धर्म मूलक दर्शन का विचार चार प्रश्नों पर चलता है।

(१) बन्ध

(२) बन्ध-हेतु (आस्रव)

(३) मोक्ष

(४) मोक्ष-हेतु (संवर-निर्जरा)

संक्षेप में दो हैं :—आस्रव और संवर। इसीलिए काल-क्रम के प्रवाह में बार-बार यह वाणी मुखरित हुई है।

"आस्रवो भव हेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि रन्यदस्याः प्रपञ्चनम्[५]॥

यही तत्त्व वेदान्त में अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है[६]। बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही तो हैं :—

(१) दुःख-हेय

(२) समुदय-हेयहेतु

(३) मार्ग-हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

(४) निरोध-हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमें पातञ्जल-योगसूत्र और व्यास-भाष्य में मिलता है[७]। योग-दर्शन भी यही कहता है—विवेकी, के लिए यह संयोग दुःख है और दुःख हेय है[८]। त्रिविध दुःख के थपेड़ों से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है[९]।

"नृणामेकोगम्य स्त्वमसि खलु नानापथजुषाम्"—गम्य एक है—उसके मार्ग अनेक। सत्य एक है—शोध-पद्धतियाँ अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सत्य-शोध की संस्थाएं, सम्प्रदाय या समाज हैं। वे धर्म नहीं हैं। सम्प्रदाय अनेक बन गए पर सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध-नित्य और शाश्वत होता है। साधन के रूप में वह है अहिंसा[१०] और साध्य के रूप में वह मोक्ष है[११]।

दुःख से सुख की ओर

मोक्ष और क्या है? दुःख से सुख की ओर प्रस्थान और दुःख से मुक्ति। निर्जरा-आत्म-शुद्धि सुख है। पाप-कर्म दुःख है[१२]। भगवान् महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नहीं पाप की जड़ पर प्रहार करती है। वे कहते हैं "मूल का छेद करो—काम-भोग क्षण मात्र सुख हैं बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं[१३]। यह संसार मोक्ष के विपक्ष है" इसलिए ये सुख नहीं हैं[१४]।

"दुःख सबको अप्रिय है [१५]। संसार दुःखमय है [१६]।" जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, और मृत्यु दुःख है। आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा है, वहाँ न जन्म है न मृत्यु है, न रोग है और न जरा।

मोक्ष

दर्शन का विचार जहाँ से चलता है और जहाँ रुकता है—आगे पीछे वहीं आता है—बन्ध और मोक्ष। मोक्ष-दर्शन के विचार की यही मर्यादा है। और जो विचार होता है वह इनके परिवार के रूप में होता है। भगवान् महावीर ने दो प्रकार की प्रज्ञा बताई है ज्ञ और प्रत्याख्यान—जानना और छोड़ना [१७]। ज्ञेय सब पदार्थ हैं। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्बन्ध है, वह हेय है। उपादेय हेय (त्याग) से अलग कुछ भी नहीं है। आत्मा का अपना रूप सत्-चित् और आनन्दघन है। हेय नहीं छूटता तब तक वह छोड़ने-लेने की उलझन में फँसा रहता है। हेय-बंधन छूटते ही वह अपने रूप में आ जाता है। फिर बाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है।

शरीर छूट जाता है। शरीर के धर्म छूट जाते हैं—शरीर के मुख्य धर्म चार हैं :—

(१) आहार (२) श्वास उच्छ्वास (३) वाणी (४) चिन्तन—ये रहते हैं तब संसार चलता है। संसार में विचारों और सम्पर्कों का तांता जुड़ा रहता है। इसीलिए जीवन अनेक रस-ग्राही बन जाता है।

पुरुषार्थ

चार दुष्प्राप्य-वस्तुओं में से एक मनुष्यत्व है। मनुष्य का ज्ञान और पुरुषार्थ चार प्रवृतियों में लगता है। वे हैं (१) अर्थ (२) काम (३) धर्म (४) मोक्ष। ये दो भागों में बंटते हैं—संसार और मोक्ष। पहले दो पुरुषार्थ सामाजिक हैं। उनमें अर्थ-साधन है और काम साध्य। अन्तिम दो आध्यात्मिक हैं। उनमें धर्म साधन है और मोक्ष साध्य। आत्म-मुक्ति पर विचार करने वाला शास्त्र मोक्ष-शास्त्र या धर्म-शास्त्र होता है। अर्थ और काम पर विचार करने वाले समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र (अर्थ-विचार) और काम-शास्त्र (काम-विचार) कहलाते हैं। इन चारों की अपनी-अपनी मर्यादा है।

अर्थ और काम—ये दो जीवन की आवश्यकता या विवशता है। धर्म और मोक्ष जीवन की स्ववशता। वे (धर्म और मोक्ष) क्रियावादी के लिए हैं, अक्रियावादी के लिए नहीं। शेष दो पुरुषार्थ प्रत्येक समाजिक व्यक्ति के लिए हैं।

जैन-दर्शन सिर्फ मोक्ष का दर्शन है। वह मोक्ष और उसके साधन भूत धर्म का विचार करता है। शेष दो पुरुषार्थों को वह नहीं छूता। वे समाज-दर्शन के विषय हैं।

सामाजिक रीति या कर्त्तव्य, अर्थ और काम की बुराई पर नियन्त्रण कैसे हो, यह विचार मोक्ष-दर्शन की परिधि में आता है। किन्तु समाज-कर्त्तव्य, अर्थ और काम की व्यवस्था कैसे की जाए, यह विचार मोक्ष-दर्शन की सीमा में नहीं आता।

मोक्ष का पुरुषार्थ अहिंसा है। वह शाश्वत और सार्वभौम है। शेष पुरुषार्थ सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं है। देश-देश और समय-समय की अनुकूल स्थिति के अनुसार उनमें परिवर्तन किया जाता है। अहिंसा कभी और कहीं हिंसा नहीं हो सकती और हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। इसी लिए अहिंसा और समाज कर्त्तव्य की मर्यादाएं अलग-अलग होती हैं।

लोक-व्यवस्था में कोई वाद, विचार या दर्शन आये, मोक्ष-दर्शन को उनमें बाधक बनने की आवश्यकता नहीं होती। अर्थ और काम को मोक्ष-दर्शन से अपनी व्यवस्था का समाधान पाना भी अपेक्षित नहीं होता। समाज-दर्शन और मोक्ष-दर्शन को एक मानने का परिणाम बहुत अनिष्ट हुआ है। इससे समाज की व्यवस्था में दोष आया है और मोक्ष-दर्शन बदनाम हुआ। अधिकांश पश्चिमी दर्शनों और अक्रियावादी भारतीय दर्शन का लोक-धर्म के साथ विशेष संबन्ध है। धर्म दर्शन-सापेक्ष और ससीम लोक धर्मों से निरपेक्ष हैं। वे निःसीम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

"जेण सिया तेण-णोसिया [१८]"—जिस लोक-व्यवस्था और भोग-परिभोग से प्राप्ति और तृप्ति होती है, उससे नहीं भी होती, इसलिए यह सार वस्तु नहीं है।

प्राणीमात्र दुःख से घबड़ाते हैं। दुःख अपना किया हुआ होता है।

उसका कारण प्रमाद है। उससे मुक्ति पाने का उपाय अप्रमाद है [१९]। कुशल दर्शन वह है, जो दुःख के निदानमूल कारण और उनका उपचार बताए [२०]।

दुःख स्वकर्मकृत है यह जानकर कृत, कारित और अनुमोदन रूप आस्रव (दुःख-उत्पत्ति के कारण-मिथ्यात्व अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग) का निरोध करें [२१]।

कुशल दार्शनिक वह है जो बन्धन से मुक्त होने का उपाय खोजे [२२]। दर्शन की धुरी आत्मा है। आत्मा है—इसलिए धर्म का महत्त्व है। धर्म से बन्धन की मुक्ति मिलती है। बन्धन मुक्त दशा में ब्रह्म-भाव या ईश्वर-पद प्रगट होता है, किन्तु जब तक आत्मा की दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं होती, इन्द्रिय की विषय-वासनाओं से आसक्ति नहीं हटती। तबतक आत्म-दर्शन नहीं होता। जिसका मन शब्द, रूप गन्ध, रस और स्पर्श से विरक्त हो जाता है; वही आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् और ब्रह्मवित् होता है [२३]।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के संयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है सृष्टि।

जीव और पुद्गल में दो प्रकार की अवस्थाएं मिलती हैं—स्वभाव और विभाव या विकार।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है। परिवर्तन का उपादान स्वयं द्रव्य होता है। धर्म, अधर्म और आकाश में स्वभाव-परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल में काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्त से पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में जो परिवर्तन होता है, उसे कहते हैं—विभाव-परिवर्तन। स्थूल दृष्टि से हमें दो पदार्थ दीखते हैं—एक सजीव और दूसरा निर्जीव। दूसरे शब्दों में जीवत्-शरीर और निर्जीव शरीर या जीव मुक्त शरीर। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है। पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवश्य हैं पर अचेतन हैं। आत्मा और पुद्गल दोनों के संयोग से जीवत् शरीर बनता है। पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और

जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तियां होती हैं। सब जीव चेतना युक्त होते हैं। किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं की दीख पड़ती है—जो शरीर सहित होते हैं। सब पुद्गल रूप सहित हैं फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीव युक्त और मुक्त-शरीर हैं। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित। शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं। जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं। शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं। जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल-स्कन्ध होते हैं—वे जीवमुक्त शरीर कहलाते हैं [२४]। खनिज पदार्थ—सब धातुएं पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर हैं। पानी अप्कायिक जीवों का शरीर है। अग्नि तैजस कायिक, हवा वायुकायिक, तृण-लता-वृक्ष आदि वनस्पति कायिक, और शेष सब त्रस कायिक जीवों के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नहीं टूटता तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी परिवर्तन का आन्तरिक कारण है। इसे बाह्य-स्थितियां प्रभावित करती हैं। कार्मण-शरीर कार्मण-वर्गणा से बनता है। ये वर्गणाएं सबसे अधिक सूक्ष्म होती हैं। वर्गणा का अर्थ है एक जाति के पुद्गल स्कन्धों का समूह। ऐसी वर्गणाएँ असंख्य हैं। प्रत्यक्ष उपयोग की दृष्टि से वे आठ मानी जाती हैं :—

१—औदारिक-वर्गणा	५—कार्मण वर्गणा
२—वैक्रिय वर्गणा	६—श्वासोच्छ्वास वर्गणा
३—आहारक ,,	७—भाषा ,,
४—तैजस् ,,	८—मन ,,

पहली पांच वर्गणाओं से पांच प्रकार के शरीरों का निर्माण होता है। शेष तीन वर्गणाओं से श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाएं होती हैं। ये वर्गणाएं समूचे लोक में व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित संगठन नहीं बनता, तब तक ये स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं किन्तु उसे कर नहीं सकतीं। इनका व्यवस्थित संगठन करने वाले प्राणी हैं। प्राणी अनादिकाल

से कार्मण वर्गणाओं से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है[२५]। निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवों का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड़ दूसरी काय में नहीं गए वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं[२६] और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'[२७]। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य यह है कि उन जीवों ने अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नहीं पाया। स्त्यानर्द्धि-निद्रा-घोरतम निद्रा के उदय से ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्यतम चैतन्य शक्ति) वाले होते हैं। इनमें विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। अव्यवहार-राशि से बाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की बन्धन-मुक्तदशा[२८]। यह प्रयत्नसाध्य है। निगोदीय जघन्यता स्वभाव सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु से छूट जाता है पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते। इसलिए फिर प्राणी को स्थूल-शरीर बनाना पड़ता है। किन्तु जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं तब फिर शरीर नहीं बनता।

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है[२९]। इससे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व में पर की दृष्टि और पर में स्व की दृष्टि का नाम है मिथ्या-दृष्टि। पुद्गल पर है, विजातीय है, बाह्य है। उसमें स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना बनती है। ये दोनों आत्मा के आवेग या प्रकम्पन हैं अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा में कम्पन पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाएं संगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाती हैं। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाएं आवेष्टित किये रहती हैं। नई कर्म-वर्गणाएं पहले की कर्म-वर्गणाओं से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिल होकर एकमेक बनजाती हैं। सब कर्म-वर्गणाओं की योग्यता समान नहीं होती। कई चिकनी होती है, कई रूखी-तीव्र रस और मंद रस। इसलिए कई छूकर रह जाती हैं, कई गाढ़ बन्धन में बंध जाती हैं। कर्म-वर्गणाएं बनते ही अपना प्रभाव नहीं डालतीं

आत्मा का आवेष्टन बनने के बाद जो उन्हें नई बनावट या नई शक्ति मिलती है, उसका परिपाक होने पर वे फल देने या प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

प्रज्ञापना (३५) में दो प्रकार की वेदना बताई हैं।

(१) आभ्युपगमिकी :—अभ्युपगम-सिद्धान्त के कारण जो कष्ट सहा जाता है वह आभ्युपगमिकी वेदना है।

(२) औपक्रमिकी :—कर्म का उदय होने पर अथवा उदीरणा द्वारा कर्म के उदय में आने पर जो कष्टानुभूति होती है, वह औपक्रमिकी वेदना है।

उदीरणा जीव अपने आप करता है अथवा इष्ट-अनिष्ट पुद्गल सामग्री अथवा दूसरे व्यक्ति के द्वारा हो जाती है। आयुर्वेद के पुरुषार्थ का यही निमित है।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है :—

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

द्रव्य से :—जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के संयोग से।

क्षेत्र से :—शीत-उष्ण आदि-आदि अनुकूल-प्रतिकूल स्थान के संयोग से।

काल से :—गर्मी में हैजा, सर्दी में बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहों के उदय से।

भाव से :—असात वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय का उदय है। जहाँ भाव से वेदना है वहीं द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित बनते हैं। भाव-वेदना के अभाव में द्रव्यादि कोई असर नहीं डाल सकते। कर्म-वर्गणाएं पौद्गलिक हैं अतएव पुद्गल-सामग्री उसके विपाक या परिपाक में निमित बनती है।

धन के पास धन आता है—यह नियम कर्म-वर्गणाओं पर भी लागू होता है। कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कर्म नहीं लगता। कर्म से बन्धी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करती है और उसके द्वारा अधिक कर्म-वर्गणाएं खींची जाती हैं [३०]।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा में उनके द्वारा कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति

सत् और असत् दोनों प्रकार की होती है। सत् से सत्-कर्मवर्गणाएं और असत् से असत्-कर्मवर्गणाएं आकृष्ट होती हैं। यही संसार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा में आत्मा विकारी रहता है। इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओं और वस्तु-स्थितियों का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नहीं डाल सकती। यह अनुभव सिद्ध बात है—असमभावी व्यक्ति, जिसमें राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दुःख सताते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाएं उसे बदलने में भारी निमित्त बनती हैं। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नहीं होती। कारण यही कि उसकी आत्मा में विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उपशान्त कर रखा है। पूर्ण विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इसलिए पर वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। शरीर नहीं रहता तब उसके माध्यम से होने वाली संवेदना भी नहीं रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकम्प—अडोल है। उसमें कम्पन शरीर-संयोग से होता है। अशरीर होने पर वह नहीं होता।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहिचान के लिए आठ मुख्य बातें हैं :—

(१) अनन्त-ज्ञान	(५) सहज-आनन्द
(२) अनन्त-दर्शन	(६) अटल-अवगाह
(३) क्षायक-सम्यक्त्व	(७) अमूर्तिकपन
(४) लब्धि	(८) अगुरु-लघु-भाव

थोड़े विस्तार में यूं समझिए—मुक्त आत्मा का ज्ञान-दर्शन अबाध होता है। उन्हें जानने में बाहरी पदार्थ रुकावट नहीं डाल सकते। उनकी आत्म-रुचि यथार्थ होती है। उसमें कोई विपर्यास नहीं होता। उनकी लब्धि-आत्मशक्ति भी अबाध होती है। वे पौद्गलिक सुख दुःख की अनुभूति से रहित होती हैं। वे बाह्य पदार्थों को जानती हैं किन्तु शरीर के द्वारा होने वाली उसकी अनुभूति उन्हें नहीं होती। उनमें न जन्म-मृत्यु की पर्याय होती है, न रूप और न गुरु-लघु भाव।

आत्मा की अनुद्बुद्ध-दशा में कर्म-वर्गणाएं इन आत्म-शक्तियों को दबाए रहती हैं—इन्हें पूर्ण विकसित नहीं होने देतीं। भव-स्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाएं घिसती-घिसती बलहीन हो जाती हैं। तब आत्मा में कुछ सहज बुद्धि जागती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह आत्म-जागरण का पहिला सोपान है। इसमें आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओं को 'पर' जान ही नहीं लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है। इसीलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर् आत्मा, सम्यग् दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। इससे पहिले की दशा में वह बहिर् आत्मा मिथ्या दृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़ती है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के सहारे वह सम्यक् चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों चरित्र का बल बढ़ता है त्यों-त्यों कर्म-वर्गणाओं का आकर्षण कम होता जाता है। सत् प्रवृत्ति या अहिंसात्मक प्रवृत्ति से पहले बन्धी कर्म-वर्गणाएं शिथिल हो जाती हैं। चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीर-दशा में भी निरावरण बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधा-हीन या बाह्य-वस्तुओं से अप्रभावित विकास हो जाता है। इस दशा में भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाली चार वर्गणाएं—भवोपग्राही वर्गणाएं बाकी रहती हैं। जीवन के अन्त में ये भी टूट जाती हैं। आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावों से सर्वथा रहित हो जाती है। बन्धन मुक्त तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है वैसे ही बन्धन-मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाती है। मुक्त आत्मा में वैभाविक परिवर्तन नहीं होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है। वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है।

ज्ञान और प्रत्याख्यान

भगवान् ने कहा—पुरुष! तू सत्य की आराधना कर। सत्य की आराधना करने वाला मौत को तर जाता है। जो मौत से परे (अमृत) है वही श्रेयस् है [३१]।

जो नश्वरता की ओर पीठ किये चलता है वह श्रेयोदर्शी (अमृतगामी) है, जो श्रेयोदर्शी है वही नश्वरता की ओर पीठ किये चलता है [३२]।

गौतम ! मैंने दो प्रकार की प्रज्ञाओं का निरूपण किया है—

(१) ज्ञ-प्रज्ञा (२) प्रत्याख्यान-प्रज्ञा ।

ज्ञ-प्रज्ञा का विषय समूचा विश्व है। जितने द्रव्य हैं वे सब ज्ञेय हैं।

प्रत्याख्यान—प्रज्ञा का विषय विजातीय-द्रव्य (पुद्गल-द्रव्य) और उसकी संग्राहक प्रवृत्तियां हैं। जीव और अजीव—ये दो मूलभूत तत्त्व हैं। विजातीय द्रव्य के संग्रह की संज्ञा बन्ध है। उसकी विपाक-दशा का नाम पुण्य और पाप है।

विजातीय-द्रव्य की संग्राहक प्रवृत्ति का नाम 'आस्रव' है।

विजातीय-द्रव्य के निरोध की दशा का नाम 'संवर' है।

विजातीय-द्रव्य को क्षीण करने वाली प्रवृत्ति का नाम 'निर्जरा' है।

विजातीय-द्रव्य की पूर्ण—प्रत्याख्यान दशा 'मोक्ष' है।

ज्ञ-प्रज्ञा की दृष्टि से द्रव्य-मात्र सत्य है।

प्रत्याख्यान प्रज्ञा की दृष्टि से मोक्ष और उसके साधन 'संवर' और 'निर्जरा'—ये सत्य हैं।

सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वयं सत्य बन जाना यही मेरे दर्शन—जैन-दर्शन या सत्य की उपलब्धि का मर्म है।

मोक्ष-साधना में उपयोगी ज्ञेयों को तत्त्व कहा जाता हैं। वे यों हैं :— जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बंध मोक्ष [३३]। उमास्वाति ने उनकी संख्या सात मानी है—पुण्य और पाप का उल्लेख नहीं किया हैं [३४]। संक्षेप दृष्टि से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव [३५]। सात या नौ विभाग उन्हीं का विस्तार है। पुण्य और पाप बन्ध के अवांतर भेद हैं। उनकी पृथक् विवक्षा हो तो तत्त्व नौ और यदि उनकी स्वतंत्र विवक्षा न हो तो वे सात होते हैं।

पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं। वे जीव और अजीव के अवस्था-विशेष हैं। पुण्य, पाप और बंध, ये पौद्गलिक हैं—इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-

अशुभ कर्म-पुद्गलों का आकर्षक भी है। इसलिए इसे मुख्य-वृत्त्या कई आचार्य जीव-पर्याय मानते हैं, कई अजीव-पर्याय। यह विवक्षा-भेद है।

नव तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और नवां मोक्ष। जीव के दो प्रकार बतलाये गए हैं—(१) संसारी बद्ध और (२) मुक्त[३६]। यहाँ बद्ध-जीव (पहला) और मुक्त जीव नौवाँ तत्त्व है। अजीव जीव प्रतिपक्ष है। वह बद्ध-मुक्त नहीं होता। पर जीव का बन्धन पौद्गलिक होता है। इसलिए साधना के क्रम में अजीव की जानकारी भी आवश्यक है। बन्धन-मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक बनता है और साध्य होता है मोक्ष। शेष सारे तत्त्व साधक या बाधक बनते हैं। पुण्य, पाप और बंध मोक्ष के बाधक हैं। आस्रव को अपेक्षा-भेद से बाधक और साधक दोनों माना जाता है। शुभ-योग को कभी आस्रव कहें तो उसे मोक्ष का साधक भी कह सकते हैं। किन्तु आस्रव का कर्म-संग्राहक रूप मोक्ष का बाधक ही है। संवर और निर्जरा—ये दो मोक्ष के साधक हैं।

बाधक तत्त्व—(आस्रव) पाँच हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग।

जीव में विकार पैदा करने वाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टि-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु दर्शन-मोह हैं।

उनके तीन पुञ्ज हैं :—

(१) मादक (२) अर्ध-मादक (३) अमादक।

मादक पुञ्ज के उदय काल में विपरीत-दृष्टि, अर्ध-मादक पुञ्ज के उदयकाल में सन्दिग्ध-दृष्टि, अमादक पुञ्ज के उदयकाल में प्रतिपाति-क्षायोपशमिक-सम्यक् दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण उपशमन—काल में प्रतिपाति औपशमिक-सम्यक् दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण वियोग-काल में अप्रतिपाति क्षायिक सम्यक् दृष्टि होती है।

चारित्र-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु चारित्र-मोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं।

(१) कषाय (२) नो कषाय कषाय को उत्तेजित करने वाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं :—

अनन्तानुवन्धी-क्रोध जैसे पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनन्तानुवन्धी-मान जैसे पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)।

अनन्तानुवन्धी-माया जैसे बांस की जड़ (वक्रतम)।

अनन्तानुवन्धी-लोभ जैसे कृमि-रेशम का (गाढ़तम)।

इनका प्रभुत्व दर्शन-मोह के परमाणुओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके उदयकाल में सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। यह मिथ्यात्व आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक् दृष्टि की वाधक है। इसके अधिकारी मिथ्या दृष्टि और सन्दिग्ध-दृष्टि है। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसे पार करने वाला सम्यक् दृष्टि होता है।

अप्रत्याख्यान-क्रोध—जैसे मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान-मान—जैसे हाड़ का खम्भा (दृढ़तर)।

अप्रत्याख्यान-माया—जैसे मेढ़े का सींग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान-लोभ— जैसे कीचड़ का रंग (गाढ़तर)

इनके उदय-काल में चारित्र को विकृत करने वाले परमाणुओं का प्रवेश-निरोध (संवर) नहीं होता, यह अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी सम्यक् दृष्टि हैं। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करने वाला अणुव्रती होता है।

प्रत्याख्यान क्रोध—जैसे धूलि-रेखा (स्थिर)

प्रत्याख्यान मान—जैसे काठ का खम्भा (दृढ़)

प्रत्याख्यान माया—जैसे चलते वैल की मूत्रधारा (वक्र)

प्रत्याख्यान लोभ—जैसे खञ्जन का रंग (गाढ़)

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का पूर्णतः निरोध (संवर) नहीं होता। यह अपूर्ण-अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहाँ आत्म-रमण की वृति का आरम्भिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करने वाले महाव्रती वनते हैं।

संज्वलन क्रोध—जैसे जल-रेखा (अस्थिर—तात्कालिक)

संज्वलन मान—जैसे लता का खम्भा (लचीला)।

संज्वलन माया—जैसे छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)

संज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला रंग)

इनके उदयकाल में चारित्र—विकारक परमाणुओं का अस्तित्व निर्मूल नहीं होता। यह प्रारम्भ में प्रमाद और बाद में कषाय-आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग-चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग-संयमी होते हैं।

योगआस्रव शैलेशी दशा (असंप्रज्ञात समाधि) का बाधक है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से पाप कर्म का बन्ध होता है। आस्रव के प्रथम चार रूप आन्तरिक दोष हैं। उनके द्वारा पाप कर्म का सतत बन्ध होता है। योग आस्रव प्रवृत्त्यात्मक है। वह अशुभ और शुभ दोनों प्रकार का होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ नहीं होतीं। शुभ-प्रवृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

आस्रव के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध उसका पुण्य-पाप के रूप में उदय, उदय से फिर आस्रव, उससे फिर बन्ध और उदय—यह संसार चक्र है।

साधक तत्त्व—संवर

जितने आस्रव हैं उतने हीं संवर हैं। आस्रव के पाँच विभाग किये हैं, इसलिए संवर के भी पाँच विभाग किये हैं :—

(१) सम्यक्त्व (२) विरति (३) अप्रमाद (४) अकषाय (५) अयोग।

चतुर्थगुणस्थानी अविरत सम्यग् दृष्टि के मिथ्यात्व आस्रव नहीं होता। षष्ठगुणस्थानी-प्रमत्त संयति के अविरति आस्रव नहीं होता। सप्तमगुणस्थानी अप्रमत्त संयति के प्रमाद आस्रव नहीं होता। वीतराग के कषाय आस्रव नहीं होता। यह अनास्रव (सर्व-संवर) की दशा है। इसी में शेष सब कर्मों की निर्जरा होती है। सब कर्मों की निर्जरा ही मोक्ष है।

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ है कर्म-क्षय और उससे होने वाली आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। निर्जरा का हेतु तप है। तप के बारह प्रकार हैं [३७]। इसलिए निर्जरा के बारह प्रकार होते हैं। जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बंध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। उससे

आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है।

गूढ़वाद

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं :—

(१) बहिर्-आत्मा (२) अन्तर्-आत्मा (३) परम-आत्मा।

जिसे अपने आप का भान नहीं, वही बाहिर्-आत्मा है। अपने स्वरूप को पहचानने वाला अन्तर्-आत्मा है। जिसका स्वरूप अनावृत हो गया, वह परमात्मा है। आत्मा परमात्मा बने, शुद्ध रूप प्रगट हो, उसके लिए जिस पद्धति का अवलम्बन लिया जाता है, वही 'गूढ़वाद' है।

परमात्म-रूप का साक्षात्कार मन की निर्विकार-स्थिति से होता है, इस लिए वही गूढ़वाद है। मन के निर्विकार होने की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं, सरल नहीं। सहजतया उसका ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी उसका क्रियात्मक व्यवहार कठिन है। इसी लिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है।

आत्म-विकास के पाँच सूत्र हैं—

पहला सूत्र है—अपनी पूर्णता और स्वतंत्रता का अनुभव—मैं पूर्ण हूँ, स्वतंत्र हूँ, जो परमात्मा है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है [३८]।

दूसरा सूत्र है—चेतन-पुद्गल विवेक—मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है, मैं चेतन हूँ, वह अचेतन है [३९]।

तीसरा सूत्र है—आनन्द बाहर से नहीं आता। मैं आनन्द का अक्षयकोष हूँ। पुद्गल-पदार्थ के संयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक आनन्द को दबा व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है—पुद्गल-विरक्ति या संसार के प्रति उदासीनता। पुद्गल से पुद्गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नहीं। पर तृप्ति में स्व का जो आरोप है, वह उचित नहीं [४०]।

जो पुद्गल-वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्गल-संयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है [४१]।

पांचवाँ सूत्र है—ध्येय और ध्याता का एकत्व ध्येय परमात्मपद है। वह मुझ से भिन्न नहीं है। ध्यान आदि की समग्र साधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रगट हो जाएगा।

गूढ़वाद के द्वारा साधक को अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियां और योगजन्य विभूतियां प्राप्त होती हैं।

अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को साक्षात् जान लेता है।

थोड़े में गूढ़वाद का मर्म आत्मा, जो रहस्यमय पदार्थ है, की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।

अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास में वह दिन अति महत्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा।

मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत् ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! जीव सक्रिय हैं या अक्रिय?"

भगवान् ने कहा—गौतम! "जीव सक्रिय भी हैं और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं—(१) मुक्त और (२) संसारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी-अवस्था-प्रतिपन्न) जीवों को छोड़ शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते हैं।

शरीर-धारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था। पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'। इस संवित् का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है'—यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवों में भी होता है। किन्तु शरीर के बिना वह प्रस्फुटित नहीं होता। इसलिए वह लब्धि-वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि-वीर्य (योगात्मक-वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है। इसलिए उसे 'करण-वीर्य' की संज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है [४२]।

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है

शरीर-मुक्ति, बन्धन,-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बन्धन, बन्धन से शरीर और शरीर से संसार—यह परम्परा है। मुक्त जीव अशरीर, अबन्ध और अक्रिय होते हैं। अक्रियावाद की स्थापना के बाद क्रियावाद के अन्वेषण की प्रवृत्ति बढ़ी। क्रियावाद की खोज में से 'अहिंसा' का चरम विकास हुआ।

अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था विश्राम या कार्य-निवृत्ति। थका हुआ व्यक्ति थकान मिटाने के लिए नहीं सोचता, नहीं बोलता और गमनागमनादि नहीं करता उसीका नाम था 'अक्रिया'। किन्तु चित्तवृत्ति निरोध, मौन और कायोत्सर्ग—एतद्‌रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण साध्य की सिद्धि के लिए है—यह अनुभवगम्य नहीं हुआ था।

'कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है [४३]। ज्यों ही यह कर्म-निवृत्ति का घोष प्रबल हुआ, त्यों ही व्यवहार-मार्ग का द्वन्द्व छिड़ गया। कर्म जीवन के इस छोर से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करने वाले मुक्त नहीं बनते। उसे नहीं करने वाले जीवन-धारण भी नहीं कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की बात तो दूर रही।

इस विचार-संघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति) शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म [४४]। प्रमत्त का कर्म बाल-वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पंडित-वीर्य होता है। पंडित-वीर्य असत् क्रिया रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है—मोक्ष का साधन है।

"शस्त्र-शिक्षा, जीव-वध, माया, काम-भोग, असंयम, वैर, राग और द्वेष—ये सकर्म-वीर्य हैं। बाल व्यक्ति इनसे घिरा रहता है[४५]।"

"पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय-संगोपन, शरीर-संयम, वाणी-संयम, मान-माया परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान-योग और काय-व्युत्सर्ग—ये अकर्म-वीर्य हैं। पंडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है[४६]।"

साधना के पहले चरण में ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नहीं है। मुमुक्षु भी साधना की पूर्व भूमिकाओं में क्रिया-प्रवृत्त रहता है। किन्तु उसका लक्ष्य अक्रिया ही होता है, इसलिए वह कुछ भी न बोले, अगर बोलना आवश्यक हो तो वह भाषा-समिति (दोष-रहित पद्धति) से बोले [४७]। वह चिन्तन न करे, अगर उसके बिना न रह सके तो आत्महित की बात ही सोचे—धर्म और शुक्ल ध्यान ही ध्याए। वह कुछ भी न करे, अगर किये बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया-शोधन का प्रकरण है। इस चिन्तन ने संयम, चरित्र, प्रत्याख्यान आदि साधनों को जन्म दिया और उनका विकास किया।

प्रत्याख्यातव्य (त्यक्तव्य) क्या है ? इस अन्वेषण का नवनीत रहा—'क्रियावाद'। उसकी रूप रेखा यूं है—क्रिया का अर्थ है कर्मबन्ध[४८]—कारक कार्य अथवा अप्रत्याख्यानजन्य (प्रत्याख्यान नहीं किया हुआ है उस सूक्ष्म वृत्ति से होने वाला) कर्मबन्ध [४९]। वे क्रियाएं पांच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी (३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी (५) प्राणातिपातिकी [५०]।

(१) कायिकी (शरीर से होने वाली क्रिया) दो प्रकार की है—(क) अनुपरता (ख) दुष्प्रयुक्ता [५१]।

शरीर की दुष्प्रवृत्ति सतत नहीं होती। निरन्तर जीवों को मारने वाला वधक शायद ही मिले। निरन्तर असत्य बोलने वाला और बुरा मन बर्ताने वाला भी नहीं मिलेगा किन्तु उनकी अनुपरति (अनिवृत्ति) नैरंतरिक होती है। दुष्प्रयोग अव्यक्त अनुपरति का ही व्यक्त परिणाम है। अनुपरति जागरण और निद्रा दोनों दशाओं में समान रूप होती है। इसे समझे बिना आत्म-साधना का लक्ष्य दूरवर्ती रहता है। इसी को लक्ष्य कर भगवान् महावीर ने कहा है—'अविरत जागता हुआ भी सोता है। विरत सोता हुआ भी जागता है [५२]।

मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्यथा से सार्वदिक मुक्ति पाने चला, तब उसे पहले पहल दुष्प्रवृत्ति छोड़ने की बात सूझी। आगे जाने की बात संभवतः उसने नहीं सोची। किन्तु अन्वेषण की गति अबाध होती है। शोध करते-करते उसने जाना कि व्यथा का मूल दुष्प्रवृत्ति नहीं किन्तु उसकी अनु-

परति (अनिवृत्ति या अविरति) है। ज्ञान का क्रम आगे बढ़ा। व्यथा का मूल कारण क्रिया समूह जान लिया गया।

(२) आधिकरणिकी—यह अधिकरण-शस्त्र के योग से होने वाली प्रवृत्ति है। इसके दो रूप हैं—(१) शस्त्र-निर्माण (२) शस्त्र-संयोग। शस्त्र का अर्थ केवल आयुध ही नहीं है। जीव-वध का जो साधन है, वही शस्त्र है।

(३) प्राद्वेषकी :—प्रद्वेष जीव और अजीव दोनों पर हो सकता है। इस लिए इसके दो रूप बनते हैं—(१) जीव-प्राद्वेषिकी (२) अजीव-प्राद्वेषिकी।

(४) परिताप (असुख की उदीरणा) स्वयं देना और दूसरों से दिलाना-'पारितापनिकी' है।

(५) प्राण का अतिपात (वियोग) स्वयं करना और दूसरों से करवाना 'प्राणातिपातिकी' है।

इस प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण गवेषणा हुई—वह है प्राणातिपात से हिंसा के पार्थक्य का ज्ञान। परितापन और प्राणातिपात—ये दोनों जीव से संबंधित हैं। हिंसा का संबंध जीव और अजीव दोनों से हैं। यही कारण है कि जैसे प्राद्वेषिकी का जीव और अजीव दोनों के साथ संबंध दरसाया है, वैसे इनका नहीं। द्वेष अजीव के प्रति भी हो सकता है किन्तु अजीव के परिताप और प्राणातिपात ये नहीं किये जा सकते। प्राणातिपात का विषय छह जीव-निकाय है[५३]।

प्राणातिपात हिंसा है किन्तु हिंसा उसके अतिरिक्त भी है। असत्य वचन, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह भी हिंसा है। इन सब में प्राणातिपात का नियम नहीं है। विषय मीमांसा के अनुसार-मृषावाद का विषय सब द्रव्य है[५४]। अदत्तादान का विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य है[५५]। आदान ग्रहण (धारण) योग्य वस्तु का ही हो सकता है, शेष का नहीं। ब्रह्मचर्य का विषय-रूप और रूप के सहकारी द्रव्य है[५६]। परिग्रह का विषय-'सब द्रव्य' हैं[५७]। परिग्रह का अर्थ है मूर्छा या ममत्व। वह अति लोभ के कारण सर्व-वस्तु विषयक हो सकता है।

ये पांच आस्रव हैं। इनके परित्याग का अर्थ है 'अहिंसा'। वह महाव्रत है। (१) प्राणातिपात-विरमण (२) मृषावाद-विरमण (३) अदत्तादान-विरमण

(४) अब्रह्मचर्य-विरमण (५) परिग्रह-विरमण—ये पाँच संवर हैं। आस्रव क्रिया है। वह 'संसार' (जन्म-मरण-परम्परा) का कारण है। संवर अक्रिया है। वह मोक्ष का कारण है [५८]।

सारांश यह है—क्रिया से निवृत होना, अक्रिया की ओर बढ़ना ही मोक्षाभिमुखता है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा है—'वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े हैं [५९]। यह प्राणातिपात-विरमण से अधिक व्यापक है।

(१) आरम्भिकी की क्रिया-जीव और अजीव दोनों के प्रति होने वाली हिंसक प्रवृत्ति [६०]।

(२) प्रातीत्यिकी क्रिया-जीव और अजीव दोनों के हेतु से उत्पन्न होने वाली रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति [६१]।

यह हिंसा का स्वरूप है, जो अजीव से भी संबंधित है। अजीव के प्राण नहीं होते, इसलिए प्राणातिपात क्रिया जीव-निमितक होती है। हिंसा अजीव निमित्तक भी हो सकती है। हिंसा का अभाव 'अहिंसा' है। इस प्रकार अहिंसा जीव और अजीव दोनों से संबंधित है। अतएव वह समता है। वह वस्तु-स्वभाव को मिटा साम्य नहीं लाती, उससे सहज वैषम्य का अन्त भी नहीं होता किन्तु जीव और अजीव के प्रति वैषम्य वृत्ति न रहे, वह साम्य-योग है। जो कोई व्यक्ति स्वार्थ या परार्थ (अपने लिए या दूसरों के लिए) सार्थक या अनर्थक (किसी अर्थ-सिद्धि के लिए या निर्थक) जानबूझकर या अनजान में, जागता हुआ या सोता हुआ, क्रिया-परिणत होता है या क्रिया से निवृत्त नहीं होता, वह कर्म से लिप्त होता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—(१) सामन्तोपनिपातिकी (२) अर्थ दण्ड-अनर्थ दण्ड (३) अनाभोग-प्रत्यया आदि अनेक क्रियाओं का निरूपण हुआ [६२]।

जैन दर्शन में क्रियावाद आस्तिक्यवाद के अर्थ में और अक्रियावाद नास्तिक्यवाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है [६३]। वह इससे भिन्न है। यह सारी चर्चा प्रवृत्ति और निवृत्ति को लिए हुए है। 'प्रवृत्ति से प्रत्यावर्तन और निवृत्ति से निर्वतन होता है' यह तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी मोक्षवादी

दर्शनों द्वारा स्वीकृत हुआ है। परन्तु जैन दर्शन में इनका जितना विस्तार है, उतना अन्यत्र प्राप्य नहीं है।

क्रिया का परित्याग (या अक्रिया का विकास) क्रमिक होता है। पहले क्रिया निवृत्त होती है फिर अप्रत्याख्यान, पारिग्रहिकी, आरम्भिकी और माया-प्रत्यया—ये निवृत होती हैं [६४]। ईर्यापथिकी निवृत होती है, तब अक्रिया पूर्ण विकसित होती जाती है। जो कोई सिद्ध या मुक्त होता है, वह अक्रिय ही होता है [६५]। इसलिए सिद्धिक्रम में 'अक्रिया का फल सिद्धि' ऐसा कहा गया है [६६]। संसार का क्रम इसके विपरीत है। पहले क्रिया, क्रिया से कर्म और कर्म से वेदना [६७]।

कर्म-रज से विमुक्त आत्मा ही मुक्त होता है [६८]। सूक्ष्म कर्मांश के रहते हुए मोक्ष नहीं होता [६९]। इसीलिए अध्यात्मवाद के क्षेत्र में क्रमशः व्रत (असत् कर्म की निवृति), सत्कर्म फलाशात्याग, सत्कर्म त्याग, सत्कर्म निदान शोधन और सर्व-कर्म परित्याग का विकास हुआ। यह 'सर्वकर्म परित्याग' ही अक्रिया है। यही मोक्ष या विजातीय द्रव्य-प्रेरणा-मुक्त आत्मा का पूर्ण विकास है। इस दशा का निरूपक सिद्धान्त ही 'अक्रियावाद' है।

निर्वाण—मोक्ष

गौतम…मुक्त जीव कहाँ रुकते हैं? वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं? वे शरीर कहाँ छोड़ते हैं? और सिद्ध कहाँ होते हैं?

भगवान्…मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकांत में प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य-लोक में शरीरमुक्त होते हैं और सिद्धि-क्षेत्र में वे सिद्ध हुए हैं [७०]।

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं, इसलिए उपचार-दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है।

कर्म-परमाणुओं से प्रभावित आत्मा संसार में भ्रमण करती हैं। भ्रमण-काल में ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं करता। यह सब स्व-नियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है [७१]।

कर्म का घनत्व मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकान्त तक चली

जाती है। जब तक कर्म का घनत्व होता है, तब तक लोक का घनत्व उस पर दबाव डालता है। ज्योंही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हलकी होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्व-गति में बाधक नहीं बनता। गुब्बारे में हाइड्रोजन (Hydrogen) भरने पर वायु मण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊँचा चला जाता है। यही बात यहाँ समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय—साक्षेप है [७२]। उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्तजीव लोक के अन्तिम छोर तक चले जाते हैं।

मुक्तजीव अशरीर होते हैं। गति शरीर-सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नहीं होने चाहिए। बात सही है। उनमें कम्पन नहीं होता। अकम्पित-दशा में जीव की मुक्ति होती है [७३]। और वे सदा उसी स्थिति में रहते हैं। सही अर्थ में वह उनकी स्वयं-प्रयुक्त गति नहीं, बन्धन-मुक्ति का वेग है। जिसका एक ही धक्का एक क्षण में उन्हें लोकान्त तक ले जाता है [७४]। मुक्ति-दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं, वह स्वयं स्वतन्त्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वयं अखण्ड है। उसका सहज रूप प्रगट होता है—यही मुक्ति है। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधि-जन्य होता है, इसलिए कर्म-उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है—सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप सम-कोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ता है वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त-दशा में आत्मा समस्त वैभाविक-आधेयों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल

नाश होने पर फिर उसका बन्ध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

ईश्वर

जैन ईश्वरवादी नहीं—बहुतों की ऐसी धारणा है। बात ऐसी नहीं है। जैन दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण-विकास-चरम लक्ष्य (मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म) का अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर हैं। मुक्त आत्माएँ अनन्त हैं, इसलिए ईश्वर अनन्त हैं।

एक ईश्वर कर्त्ता और महान्, दूसरी मुक्तात्माएँ अकर्त्ता और इसलिए अमहान् की वे उस महान् ईश्वर में लीन हो जाती हैं—यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरुपाधिक दशा में हो नहीं सकती। मुक्त आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता को इसलिए अस्वीकार करने वाले कि स्वतन्त्र सत्ता मानने पर मोक्ष में भी भेद रह जाता है, एक निरूपाधिक सत्ता को अपने में विलीन करने वाली और दूसरी निरूपाधिक सत्ता को उसमें विलीन होने वाली मानते हैं—क्या यह निर्-हेतुक भेद नहीं ? मुक्त-दशा में समान विकास-शील प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार वस्तु-स्थिति का स्वीकार है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द—यह मुक्त आत्मा का स्वरूप या ऐश्वर्य है। यह सबमें समान होता है।

आत्मा सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि सहित) होती है, तब उसमें पर भाव का कर्तृत्व होता है। मुक्त-दशा निरूपाधिक है। उसमें केवल स्वभाव-रमण होता है, पर-भाव-कर्तृत्व नहीं। इसलिए ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करना उचित नहीं।

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

प्रत्येक व्यक्ति जीवन के आरम्भ में अवादी होता है। किन्तु आलोचना के क्षेत्र में वह आता है त्योंही वाद उसके पीछे लग जाते हैं। वास्तव में वह वही है, जो शक्तियां उसका अस्तित्व बनाए हुए हैं। किन्तु देश, काल और

परिस्थिति की मर्यादाएँ, वह जो है उससे भी उसे और अधिक बना देती हैं। इसीलिए पारमार्थिक जगत् में जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत् में समष्टिवादी बन जाता है।

निश्चय-दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। संज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म-मृत्यु वैयक्तिक है। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोगता। सुख-दुःख का संवेदन भी वैयक्तिक है [७५]।

सामूहिक अनुभूतियाँ कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन में उतर नहीं आती। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से सम्बन्धों की कल्पना जुड़ जाती हैं, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा में उनपर कुछ भी बीते मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शत्रु जैसे मान्यता की वस्तु है, वैसे मित्र भी। शत्रु की हानि से प्रमोद और मित्र की हानि से दुःख, शत्रु के लाभ से दुःख और मित्र के लाभ से प्रमोद जो होता है, वह मान्यता से आगे कुछ भी नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र [७६]।

निश्चय-दृष्टि उपादान प्रधान है। उसमें पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओं को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ से अभिन्न मान लेता है। समूह गत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग रहकर कोई व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है, वह अपने कर्त्तव्यों को नहीं निभा सकता। इसमें परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुड़ने की, संवेदनशीलता की बात होती है।

जैन-दर्शन का मर्म नहीं जानने वाले इसे नितान्त व्यक्तिवादी बताते हैं। पर यह सर्वथा सच नहीं है। वह अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है किन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध नहीं करता। निश्चय-दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्म-

निष्ठ ही स्वीकार करता है, इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य साधना-शील आत्मा को पर-समयरत कहा है [७७]।

औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुदार भी नहीं है। इसीलिए—'सिद्ध मुझे सिद्धि दें'—ऐसी प्रार्थनाएँ की जाती हैं[७८]।

प्राणीमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नहीं, आत्म-तुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौभ्रात्र है। इसी में से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

चार

६५-७८

सम्यक् चारित्र

उत्क्रान्ति क्रम

आरोह क्रम

साधना का विघ्न

गुणस्थान

देश विरति

सर्व विरति

व्रत विकास

अप्रमाद

श्रेणी-आरोह और अकषाय या वीतराग भाव

केवली या सर्वज्ञ

अयोग-दशा और मोक्ष

सम्यक्-चारित्र

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे उत्तम धम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम मापमायए॥

—उत्त० १०-१८

सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियंपुण दुल्लहं।
वहवे रोयमाणावि नो 'य णं पडिवज्जए॥
माणु सत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्द हे।
तवस्सी वीरयं लद्धुं संबुडे निद्धुणे रयं॥

—उत्त० ३।१०-११

(१) उत्क्रान्ति-क्रम :—

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति आत्म-ज्ञान से शुरू होकर आत्म-मुक्ति (निर्वाण) में परिसमाप्त होती है। उसका क्रम इस प्रकार है[1]—

(१) श्रवण
(२) जीव-अजीव का ज्ञान
(३) गति-ज्ञान (संसार-भ्रमण का ज्ञान)
(४) बन्ध और बन्ध मुक्ति का ज्ञान
(५) भोग-निर्वेद
(६) संयोग-त्याग
(७) अनगारित्व (साधुपन)
(८) उत्कृष्ट संवर-धर्म स्पर्श (लगने वाले कर्मों का निरोध)
(९) कर्म-रज-धूनन (अबोधिवश पहले किये हुए कर्मों का निर्जरण)
(१०) केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन (सर्वज्ञता)
(११) लोक-अलोक-ज्ञान
(१२) शैलेशी-प्रतिपत्ति (अयोग-दशा, पूर्ण निरोधात्मक समाधि)
(१३) सम्पूर्ण-कर्म-क्षय
(१४) सिद्धि

(१५) लोकान्तगमन

(१६) शाश्वत-स्थिति

धर्म का यथार्थ श्रमण पाए बिना कल्याणकारी और पापकारी कर्म का ज्ञान नहीं होता। इसलिए सबसे पहले 'श्रुति' है। उससे आत्म और अनात्म तत्त्व की प्रतीति होती है। इनकी प्रतीति होने पर अहिंसा या संयम का विवेक आता है। आत्म-अनात्म की प्रतीति का दूसरा फल है—गति-विज्ञान। इसका फल होता है—गति के कारक और उसके निवर्तक तत्त्वों का ज्ञान—मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों का ज्ञान (मोक्ष के साधक तत्त्व गति के निवर्तक हैं, उसके बाधक तत्त्व गति के प्रवर्तक) पाप का विपाक कटु होता है। पुण्य का फल क्षणिक तृप्ति देने वाला और परिणामतः दुःख का कारण होता है। मोक्ष-सुख शाश्वत और सहज है। यह सब जान लेने पर भोग-विरक्ति होती है। यह (आन्तरिक कषायादि और बाहरी पारिवारिक जन के) संयोग-त्याग की निमित्त बनती है। संयोगों की आसक्ति छूटने पर अनगारित्व आता है। संवर-धर्म का अनुशीलन गृहस्थी भी करते हैं। पर अनगार के उत्कृष्ट संवर-धर्म का स्पर्श होता है। यहाँ से आध्यात्मिक उत्कर्ष का द्वार खुल जाता है। सिद्धि सुलभ हो जाती है। उत्क्रान्ति का यह विस्तृत क्रम है। इसमें साधना और सिद्धि—दोनों का प्रतिपादन है। इनका संक्षेपीकरण करने पर साधना की भूमिकाएं पांच बनती हैं।

साधना की पांच भूमिकाएं :—

(१) सम्यग्-दर्शन

(२) विरति

(३) अप्रमाद

(४) अकषाय

(५) अयोग

आरोह क्रम

इनका आरोह-क्रम यही है। सम्यग् दर्शन के बिना विरति नहीं, विरति के बिना अप्रमाद नहीं, अप्रमाद के बिना अकषाय नहीं, अकषाय के बिना अयोग नहीं।

अयोग-दशा अक्रिया की स्थिति है। इसके बाद साधना शेष नहीं रहती। फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और निर्वाण-दशा हो जाती है।

साधना का विघ्न

साधना में बाधा डालने वाला मोह-कर्म है। उसके दो रूप हैं (१) दर्शन-मोह (२) चारित्र-मोह। पहला रूप सम्यग् दर्शन में बाधक बनता है, दूसरा चारित्र में।

दर्शन-मोह के तीन प्रकार हैं—

(१) सम्यक्त्व-मोह, (२) मिथ्यात्व-मोह, (३) मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) मोह।

चारित्र-मोह के पच्चीस प्रकार हैं—

सोलह कषाय :—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

नौ नो-कषाय—

(१७) हास्य (१८) रति (१९) अरति (२०) भय (२१) शोक (२२) जुगुप्सा (२३) स्त्री-वेद (२४) पुरुष-वेद (२५) नपुंसक-वेद।

जब तक दर्शन-मोह के तीन प्रकार और चारित्र-मोह के प्रथम चतुष्क (अनन्तानुबन्ध) का अत्यन्त विलय (क्षायिक भाव) नहीं होता, तब तक सम्यग् दर्शन (क्षायिक-सम्यक्त्व) का प्रकाश नहीं मिलता। सत्य के प्रति सतत् जागरूकता नहीं आती। इन सात प्रकृतियों (दर्शन-सप्तक) का विलय होने पर साधना की पहली मंजिल तय होती है।

सम्यग् दर्शन साधना का मूल है। "अदर्शनी (सम्यग् दर्शन रहित) ज्ञान नहीं पाता [२]। ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना मोक्ष, मोक्ष के बिना निर्वाण—शाश्वत शान्ति का लाभ नहीं होता।"

गुणस्थान

विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा जीवों के चौदह स्थान (भूमिकाएं) बतलाए हैं। उनमें सम्यग् दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रान्ति का आदि बिन्दु होने के कारण इसे साधना की पहली भूमिका भी माना जा सकता है।

पहली तीन भूमिकाओं में प्रथम भूमिका (पहले गुणस्थान) के तीन रूप बनते हैं—(१) अनादि-अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि सान्त। प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति-भव्य (कभी भी मुक्त न होने वाले) जीव होते हैं। दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है जो अनादिकालीन मिथ्या-दर्शन की गांठ को तोड़कर सम्यग् दर्शनी बन जाते हैं। सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी—ऐसे जीवों की अपेक्षा से तीसरा रूप बनता है। पहला गुणस्थान उत्क्रान्ति का नहीं है। इस दशा में शील की देश आराधना हो सकती है [३]। शील और श्रुत दोनों की आराधना नहीं, इसलिए सर्वाराधना की दृष्टि से यह अपक्रान्ति-स्थान है। मिथ्या दर्शनी व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म-विलयजन्य (न्यूनाधिक रूप में) विशुद्धि का अंश न मिले। उस (मिथ्या दृष्टि) का जो विशुद्धि-स्थान है, उसका नाम मिथ्या, 'दृष्टि-गुणस्थान' है [४]।

मिथ्या दृष्टि के (१) ज्ञानावरण कर्म का विलय (क्षयोपशम) होता है, अतः वह यथार्थ जानता भी है, (२) दर्शनावरण का विलय होता है अतः वह इन्द्रिय-विषयों का यथार्थ ग्रहण भी करता है; (३) मोह का विलय होता है अतः वह सत्यांश का श्रद्धान और चारित्रांश—तपस्या भी करता है। मोक्ष या आत्म-शोधन के लिए प्रयत्न भी करता है [५]। (४) अन्तराय कर्म का विलय होता है, अतः वह यथार्थ-ग्रहण (इन्द्रिय मन के विषय का साक्षात्), यथार्थ गृहीत का यथार्थ ज्ञान (अवग्रह आदि के द्वारा निर्णय तक पहुँचना) उसके (यथार्थ ज्ञान) प्रति श्रद्धा और श्रद्धेय का आचरण—इन सब के लिए प्रयत्न करता है—आत्मा को लगाता है। यह सब उसका विशुद्धि-स्थान है। इसलिए मिथ्यात्वी को 'सुव्रती'[६] और 'कर्म-सत्य' कहा गया है[७]। इनकी

मार्गानुसारी क्रिया का अनुमोदन करते हुए उपाध्याय विनय विजयजी ने लिखा है—

"मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्यादि गुणप्रसारम्।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः [८]॥"

श्रुत की न्यूनता के कारण इनके प्रत्याख्यान (विरति) को दुष्प्रत्याख्यान भी बताया है।

गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवन्! सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्व सत्व को मारने का कोई प्रत्याख्यान करता है, वह सुप्रत्याख्यात है या दुष्प्रत्याख्यात ?

भगवान् ने कहा—गौतम ? सुप्रत्याख्यात भी होता है और दुष्प्रत्याख्यात भी ?

गौतम—यह कैसे भगवन् ?

भगवान्—गौतम! सर्वजीव यावत् सर्वसत्व को मारने का प्रत्याख्यान करने वाला नहीं जानता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं। उसका प्रत्याख्यात दुष्प्रत्याख्यात होता है और सब जीवों को जाने बिना "सब को मारने का प्रत्याख्यान है" यूं बोला जाता है; वह असत्य भाषा है...............।

"..................जो व्यक्ति जीव अजीव, त्रस-स्थावर को जानता है और वह सर्वजीव यावत् सर्व सत्व को मारने का प्रत्याख्यान करता है—उसका प्रत्याख्यात सुप्रत्याख्यात होता है और उसका वैसा बोलना सत्य भाषा है।" इस प्रकार प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यात भी होता है और सुप्रत्याख्यात भी [९]।

इसका तात्पर्य यह है कि सब जीवों को जाने बिना जो व्यक्ति सब जीवों की हिंसा का त्याग करता है, वह त्याग पूरा अर्थ नहीं रखता। किन्तु वह जितनी दूर तक जानकारी रखता है, हेय को छोड़ता है, वह चारित्र की देश-आराधना है। इसीलिए पहले गुणस्थान के अधिकारी को मोक्ष-मार्ग का देश-आराधक कहा गया है [१०]।

दूसरा गुण स्थान (सास्वादन-सम्यग् दृष्टि) अपक्रमण-दशा है। सम्यग्-दर्शनी (औपशमिक-सम्यक्त्वी) दर्शन-मोह के उदय से मिथ्या-दर्शनी

बनता है। उस संक्रमण-काल में यह स्थिति बनती है। पेड़ से फल गिर गया और जमीन को न छू पाया—ठीक यही स्थिति इसकी है। इसीलिए इसका कालमान बहुत थोड़ा है (छह आवलिका मात्र है)।

तीसरा स्थान मिश्र है। इसका अधिकारी न सम्यग् दर्शनी होता है और न मिथ्या-दर्शनी। यह संशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि-विपर्यय वाला होता है, इसका अधिकारी संशयालु—यह दोनों में अन्तर है। दोलायमान दशा अन्तर्-मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिकती। फिर वह या तो विपर्यय में परिणित हो जाती है या सम्यग् दर्शन में। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनों भूमिकाओं में दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है। शेष दो अल्पकालीन हैं। सम्यग् दर्शन उत्क्रान्ति का द्वार है, इसीलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना है कि इससे अगली कक्षाओं का है। कर्म-मुक्त होने की प्रक्रिया है—आने वाले कर्मोंका निरोध (संवरण) और पिछले कर्मों का विनाश (निर्जरण)। सम्यग्-दर्शनी के विरति नहीं होती, इसलिए उसके तपस्या द्वारा केवल कर्म-निर्जरण होता है, कर्म-निरोध नहीं होता। इसे हस्ति-स्नान के समान बताया गया है। हाथी नहाता है और तालाब से बाहर आ धूल या मिट्टी उछाल फिर उससे गन्दला बन जाता है। वैसे ही अविरत-व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म-निर्जरण कर शोधन करते हैं और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं [११]। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नहीं है। वह (समग्र भूमिका) विद्या और आचरण दोनों की सह-स्थिति में बनती है [१२]।

चरण-करण या संवर धर्म के बिना सम्यग् दृष्टि सिद्ध नहीं होता। इसीलिए साधना की समग्रता को रथ-चक्र और अन्ध-पंगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग् दर्शन) से साध्य नहीं मिलता। विद्या पंगु है, क्रिया अन्धी। साध्य तक पहुँचने के लिए पैर और आंख दोनों चाहिए।

ऐसा विश्वास पाया जाता है कि "तत्त्वों को सही रूप में जानने वाला सब दुःखों से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं

करते। वे एकान्त अक्रियावादी वन जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचनिक आश्वासन कहा है [13]।"

सम्यग् दृष्टि के पाप का बन्ध नहीं होता या उसके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता—ऐसी मिथ्या धारणा न बने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[14] वाल[15] और सुप्त कहा है [16]।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृतिः
जनाम्यधर्मं न च मे निवृतिः"

"धर्म को जानता हूँ, पर उसमें प्रवृति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूँ पर उससे निवृत्ति नहीं है।"—यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। इसका पुनरावर्तन प्रत्येक जीव में होता है। यह प्रश्न अनेक मुखों से मुखरित होता रहता है कि "क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी—समझते हुए भी छोड़ नहीं पाते?" जैन कर्मवाद इसका कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यूं है – जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्गलों का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहने वाले पुद्गलों के अलग होने पर प्रगट होती है बुरी वृत्ति को छोड़ना, अच्छा आचरण करना—यह चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के दूर होने पर सम्भव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्गलों के हट जाने पर भी दर्शन-मोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हुए हों तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नहीं होता। दर्शन को मोहने वाले पुद्गल विखर जाएं, तब उस पर श्रद्धा बन जाती है। पर चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नहीं होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह बनता है—(१) ज्ञान, (२) श्रद्धा (३) चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के बिना भी हो सकता है पर श्रद्धा उसके विना नहीं होती। श्रद्धा चारित्र के बिना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके विना नहीं होता। अतः वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अन्तर) जो होता है, वह निष्कारण नहीं है। ज्यों साधना आगे बढ़ती है, चारित्र का भाव प्रगट होता है, त्यों द्वैध की खाई पटती जाती है पर वह छद्मस्थ-दशा (प्रमत्त-दशा) में पूरी नहीं पटती।

छद्मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान् ने कहा—"छद्मस्थ सात कारणों से पहचाना जाता है—(१) वह प्राणातिपात करता है (२) मृषावादी होता है (३) अदत लेता है (४) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का आस्वाद लेता है (५) पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है (६) पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है (७) जैसा कहता है, वैसा नहीं करता [१७]।

यह प्रमाद युक्त व्यक्ति की मनः स्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रवल होता हैं, तव कथनी करनी की एकता नहीं आती। उसके विना ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य नहीं होता। इनके असामञ्जस्य में पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहाँ यह होती है, वहाँ विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रवलता में ये विकार एक ही शृंखला से जुड़े रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग में ये सातों विकार नहीं होते।

देश विरति

भगवान् ने कहा—गौतम ! सत्य (धर्म) की श्रुति दुर्लभ है। वहुत सारे लोग मिथ्यावादियों के संग में ही लीन रहते हैं। उन्हें सत्य-श्रुति का अवसर नहीं मिलता। श्रद्धा सत्य-श्रुति से भी दुर्लभ है। वहुत सारे व्यक्ति सत्यांश सुनते हुए भी (जानते हुए भी) उस पर श्रद्धा नहीं करते। वे मिथ्यावाद में ही रचे-पचे रहते हैं। काय-स्पर्श (सत्य का आचरण) श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी काम-भोग की मूर्छा छूटे विना सत्य का आचरण नहीं होता। तीव्रतम-कषाय (अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) के विलय से सम्यक् दर्शन (सत्य श्रद्धा) की योग्यता आजाती है। किन्तु तीव्रतर कषाय (अप्रत्याख्यान क्रोधादि चतुष्क) के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नहीं आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चरित्रवान् श्रद्धा सम्पन्न अवश्य होता है किन्तु श्रद्धावान् चरित्र-सम्पन्न होता भी है और नहीं भी। यही इस भूमिका-भेद का आधार है। पांचवी भूमिका चारित्र की है। इसमें चरित्रांश का उदय होता है। कर्म-निरोध या संवर का यही प्रवेश-द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक रूप नहीं होती। उसमें असीम तारतम्य होता है। विस्तार-दृष्टि से चारित्र-विकास के अनन्त स्थान हैं। संक्षेप में उसके वर्गीकृत स्थान दो हैं—(१) देश (अपूर्ण)-चारित्र (२) सर्व-(पूर्ण) चारित्र। पाँचवी भूमिका देश-चारित्र (अपूर्ण-विरति) की है। यह गृहस्थ का साधना-क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये पाँच अणुव्रत हैं। दिग्-विरति, भोगोपभोग-विरति और अनर्थ-दण्ड-विरति—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

बहुत लोग दूसरों के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोग-सामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाया करते हैं। इसके साथ शोषण या असंयम की कड़ी जुड़ी हुई है। असंयम को खुला रखकर चलने वाला स्वस्थ अणुव्रती नहीं हो सकता। दिग्-व्रत में सार्वभौम (आर्थिक राजनीतिक या और और सभी प्रकार के) अनाक्रमण की भावना है। भोग-उपभोग की खुलावट और प्रमाद जन्य भूलों से बचने के लिए सातवां और आठवां व्रत किया गया है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, इसलिए इन्हें गुण व्रत कहा गया है।

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है—राग द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। सम भाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

सम भाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही सम भाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पौषधोपवास-व्रत साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सावद्य प्रवृत्ति को त्याग समभाव की उपासना करना पौषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का संविभाग देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं। इसलिए इन्हें शिक्षा व्रत कहा गया।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है।

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि-जीवन की हैं।

सर्व-विरति

यह छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता हैं। महाव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान् ऋषभ देव और भगवान् महावीर के समय में रात्रि-भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप में रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय यह उत्तर-गुण के रूप में रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नहीं मिलता [१८]।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणों को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हें व्रत की संज्ञा नहीं दी जाती। मूलगुण की मान्यता में परिवर्तन होता रहा हैं—धर्म का निरूपण विभिन्न रूपों में मिलता है।

व्रत-विकास

'अहिंसा शाश्वत धर्म है—यह एक व्रतात्मक धर्म का निरूपण है [१९]।'

सत्य और अहिंसा यह दो धर्मों का निरूपण है [२०]।'

'अहिंसा, सत्य और बहिर्धादान—यह तीन यामों का निरूपण है।'

'अहिंसा सत्य, अचौर्य, और बहिर्धादान-यह चतुर्याम-धर्म का निरूपण है।'

'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह'—यह पंच महाव्रतों का निरूपण है।

जैन सूत्रों के अनुसार बाईस तीर्थंकरों के समय में चतुर्याम-धर्म रहा और पहले और चौबीसवें तीर्थंकरों के समय में पंचयाम धर्म [२१]। तीन याम का निरूपण आचारांग में मिलता है [२२]। किन्तु उसकी परम्परा कब रही, इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। यही बात दो और एक महाव्रत के

लिए है। अहिंसा ही धर्म है। शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं। यह विचार उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत दृढ़ता से निरूपित हुआ है।

धर्म का मौलिक रूप सामायिक—चारित्र या समता का आचरण है। अहिंसा, सत्य आदि उसी की साधना के प्रकार हैं। समता का अखंड रूप एक अहिंसा महाव्रत में भी समा जाता है और भेद-दृष्टि से चलें तो उसके पाँच और अधिक भेद किये जा सकते हैं।

अप्रमाद

यह सातवीं भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है—उसके प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कहीं-कहीं हिंसा भी कर लेता है। सातवीं का अधिकारी प्रमादी नहीं होता, सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। इसलिए अप्रत्त-संयती को अनारम्भ—अहिंसक और प्रमत्त-संयती को शुभ-योग की अपेक्षा अनारम्भ और अशुभ-योग की अपेक्षा आत्मारम्भ (आत्म-हिंसक) परारम्भ (पर-हिंसक) और उभयारम्भ (उभय-हिंसक) कहा है।

श्रेणी-आरोह और अकषाय या वीतराग-भाव

आठवीं भूमिका का आरम्भ अपूर्व-करण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है, आत्मा 'गुण-श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणियां दो हैं—उपशम और क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला ग्यारहवीं भूमिका में पहुंच मोह को सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। मोह को खपाकर आगे बढ़ने वाला बारहवीं भूमिका में पहुंच वीतराग बन जाता है। क्षीण मोह का अवरोह नहीं होता।

केवली या सर्वज्ञ

तेरहवीं भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। भगवान् ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनानी के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा

निरावरण और निरन्तराय बन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग-दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। उन्हीं के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अन्तिम भूमिका है। इस काल में वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव में परिणत हो जाता है। साधन स्वयं साध्य बन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणसि मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

पाँच

७९-११४

साधना पद्धति

जागरण

आत्मा से परमात्मा

साधना के सूत्र

अप्रमाद

उपशम

साम्ययोग

तितिक्षा

अभय

आत्मानुशासन

संवर और निर्जरा

साधना का मानदण्ड

महाव्रत और अणुव्रत

ब्रह्मचर्य का साधना मार्ग

साधना के स्तर

समिति

गुप्ति

आहार

तपयोग

श्रमण-संस्कृति और श्रामण्य

जागरण

जो असंयम है, वही असत्य है और जो असत्य है, वही असंयम है। जो संयम है, वही सत्य है और जो सत्य है, वही संयम है[1]। जो संयम की उपासना करता है, वह स्वयं शिव और सुन्दर बन जाता है—विजातीय तत्त्व को खपा स्वस्थ या आत्मस्थ बन जाता है[2]।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं :—

(१) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से जागता है, भाव-नींद से सोता है, वह असयंमी है।

(२) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से भी सोता है और भाव-नींद से भी सोता है, वह प्रमादी और असंयमी दोनों है।

(३) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से सोता है किन्तु भाव-नींद से दूर है, वह संयमी है।

(४) कोई व्यक्ति द्रव्य और भाव नींद—दोनों से दूर है, वह अति जागरूक संयमी है।

दैहिक नींद वास्तव में नींद नहीं है, यह द्रव्य-नींद है। वास्तविक नींद श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शून्यता है।

जो अमुनि (असंयमी) हैं, वे सदा सोये हुए हैं। जो मुनि (संयमी) हैं, वे सदा जागते है[3]। यह सतत-शयन और सतत-जागरण की भाषा अलौकिक है। असंयम नींद है और संयम जागरण। असंयमी अपनी हिंसा करता है, दूसरों का बध करता है, इसलिए वह सोया हुआ है। संयमी किसी की भी हिंसा नहीं करता, इसलिए वह अप्रमत्त है—सदा जागरूक है।

आत्मा से परमात्मा

जो व्यकि दिन में, परिषद् में, जागृत-दशा में या दूसरों के संकोचवश पाप से बचते हैं, वे वहिर्हष्टि हैं—अन्-अध्यात्मिक हैं। उनमें अभी अध्यात्म-चेतना का जागरण नहीं हुआ है।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने

आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नहीं, परम-आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं—वे आध्यात्मिक हैं।

उन्हीं में परम-आत्मा से सम्बन्ध बनाये रखने के सामर्थ्य का विकास होता है। इसके चरम शिखर पर पहुँच, वे स्वयं परम-आत्मा बन जाते हैं।

साधना के सूत्र (अप्रमाद)

आर्यों ! आओ ! भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान् ने पूछा—आयुष्यमन् श्रमणों ! जीव किससे डरते हैं ?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र भाव से लोले—भगवन् ! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य हैं ? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले—आर्यों ! जीव दुःख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! दुःख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गोतम ! दुःख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है[४]।

गौतम—भगवन् ! दुःख का अन्त-कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गौतम ! दुःख का अन्त-कर्त्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद है[५]।

उपशम

मानसिक सन्तुलन के विना कष्ट सहन की क्षमता नहीं आती। उसका उपाय उपशम है। व्याधियों की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्ष-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है, इसलिए भगवान् ने कहा—जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है, लाभ-अलाभ सुख-दुःख, जीवन, मौत, निन्दा, प्रशंसा, मान-अपमान में सम है, अकषाय, अदण्ड, निःशल्य और अभय है, हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है, ऐहिक और पारलौकिक बन्धन से

मुक्त है, पूजा और प्रहार में सम है, आहार और अनशन में सम है, अप्रशस्त वृत्तियों का संवारक है, अध्यात्म-ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है।

भगवान् ने कहा—कोई श्रमण कभी कलह में फँस जाए तो वह तत्काल सम्हल कर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा याचना करले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न, उठे, वन्दना करे, या न करे; साथ में खाये या न खाये, साथ में रहे या न रहे कलह को उपशान्त करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना करता है, जो उसे शांत नहीं करता उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।

गौतम ने पूछा—भगवन्! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए?

भगवान् ने कहा— गौतम! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा, वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशमन विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थ-भाव और तटस्थ-नीति को बरत सकता है।

साम्य-योग

जाति और रंग का गर्व कौन कर सकता है? यह जीव अनेक बार ऊंची और अनेक बार नीची जाति में जन्म ले चुका है।

यह जीव अनेक बार गोरा और अनेक बार काला बन चुका है। जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो हृष्ट व रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है[६]।

तितिक्षा

भगवान् ने कहा—गौतम! अहिंसा का आधार तितिक्षा है[७]। जो कष्टों से घबड़ाता है, वह अहिंसक नहीं हो सकता।

इस शरीर को खपा[८]। साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है[९]।

इस शरीर को तपा[१०]। साध्य तपने से ही सधता है[११]।

अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते हैं[१२]।

अणुबम की प्रयोग-भूमि केवल जापान है। उसकी भय-व्याप्ति सभी राष्ट्रों में है।

जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

आत्मानुशासन

संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है[१३]। संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है[१४]। नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है[१५]।

भगवान् ने कहा—गौतम! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१६]। कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१७]।

लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख, सब जीवों में समता देख। शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है[१८]।

कषाय-विजय, काम-विजय या इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं। इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त नहीं होते।

संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी

और शरीर की प्रवृत्ति) इन पांच आस्रवों के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने बन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है—संवर और तपस्या—निर्जरा। संवर के द्वारा नये विजातीय द्रव्य के संग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित-संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नये सिरे से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है[१९]।

साधना का मान-दण्ड

भगवान् ने कहा—गौतम ! साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष-उत्कर्ष या अवरोह-आरोह का मान-दण्ड संवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।

संयम और आत्म-स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम बिन्दु एक है। पूर्ण संयम यानी असंयम का पूर्ण अन्त, असंयम का पूर्ण अन्त यानी आत्मा का पूर्ण विकास।

जो व्यक्ति भोग-तृष्णा का अन्तकर है, वही इस अनादि दुःख का अन्तकर है[२०]।

दुःख के आवर्त्त में दुःखी ही फंसता है, अदुःखी नहीं[२१]।

उस्तरा और चक्र अन्त-भाग से चलते हैं। जो अन्त भाग से चलते हैं, वे ही साध्य को पा सकते हैं।

विषय, कषाय और तृष्णा की अन्तरेखा के उस पार जिनका पहला चरण टिकता है, वे ही अन्तकर—मुक्त बनते हैं[२२]।

महाव्रत और अणुव्रत

'अहिंसा ही धर्म है, यह कहना न तो अत्युक्ति है और न अर्थवाद। आचार्यों ने बताया है कि "सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं[२३]।" काव्य की भाषा में "अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली बाड़ें हैं[२४]।" "अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं[२५]।" सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

अहिंसा का यह व्यापक रूप है। इसकी परिभाषा है जो संवर और सत्प्रवृत्ति है वह अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा रूप है—प्राणातिपात-विरति।

भगवान् ने कहा जीवमात्र को मत मारो, मत सताओ, आधि-व्याधि मत पैदा करो, कष्ट मत दो, अधीन मत बनाओ, दास मत बनाओ यही ध्रुव-धर्म है, यही शाश्वत सत्य है। इसकी परिभाषा है—मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित अनुमति से आक्रोश, बन्ध और बध का त्याग। दूसरे महाव्रतों की रचना का मूल यही परिभाषा है। इसमें मृषावाद, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का समावेश नहीं होता। अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्य जितने व्यापक शब्द हैं, उतने व्यापक प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति और मैथुन-विरति नहीं है।

प्राणातिपात-विरति भी अहिंसा है। स्वरूप की दृष्टि से अहिंसा एक है। हिंसा भी एक है। कारण की दृष्टि से हिंसा के दो प्रकार बनते हैं—(१) अर्थ हिंसा—आवश्यकतावश की जाने वाली हिंसा और (२) अनर्थ हिंसा—अन्-आवश्यक हिंसा। मुनि सर्व हिंसा का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। वह अहिंसा महाव्रत को इन शब्दों में स्वीकार करता है—"भंते! मैं उपस्थित हुआ हूँ पहले महाव्रत प्राणातिपात से विरत होने के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर जीवों का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा, मैं स्वयं न करूँगा—दूसरों से न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा। मैं यावज्जीवन के लिए इस प्राणातिपात-विरति महाव्रत को स्वीकार करता हूँ।"

गृहस्थ अर्थ-हिंसा छोड़ने में क्षम नहीं होता, वह अनर्थ-हिंसा का त्याग और अर्थ-हिंसा का परिमाण करता है। इसलिए उसका अहिंसा-व्रत स्थूल-प्राणातिपात-विरति कहलाता है। जैन आचार्यों ने गृहस्थ के उत्तरदायित्वों और विवशताओं को जानते हुए कहा—"आरम्भी—कृषि, व्यापार सम्बन्धी और विरोधी प्रत्याक्रमण कालीन हिंसा से न बच सको तो संकल्पी-आक्रमणात्मक और अप्रायोजनिक हिंसा से अवश्य बचो।" इस मध्यम-मार्ग पर अनेक लोग

चले। यह सबके लिए आवश्यक मार्ग है। अविरति मनुष्य को मूढ़ बनाती है, यह केवल अवरति नहीं है। विरति केवल मनुष्य मात्र के लिए सरल नहीं होती, यह केवल विरति नहीं है। यह अविरति और विरति का योग है। इसमें न तो वस्तु-स्थिति का अपलाप है और न मनुष्य की वृत्तियों का पूर्ण अनियंत्रण। इसमें अपनी विवशता की स्वीकृति और स्ववशता की ओर गति दोनों हैं।

निश्चय-दृष्टि यह है—हिंसा से आत्मा का पतन होता है, इसलिए वह अकरणीय है।

व्यवहार-दृष्टि यह है—सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दुःख प्रतिकूल है। बध सब को अप्रिय है। जीना सब को प्रिय है। सब जीव लम्बे जीवन की कामना करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है।

यह सब समझ कर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

किसी जीव को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए[२६]।

किसी के प्रति बैर और विरोध भाव नहीं रखना चाहिए[२७]।

सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए[२८]।

हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है,[२९] विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है; जिसपर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दुःख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

मृषावाद-विरति-दूसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है असत्य-भाषण से विरत होना।

अदत्तादान विरति तीसरा महाव्रत है इसका अर्थ है बिना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना। मैथुन-विरति चौथा महाव्रत है—इसका अर्थ है भोग-विरति। पाँचवाँ महाव्रत अपरिग्रह है। इसका अर्थ है परिग्रह का त्याग। मुनि मृषावाद आदि का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, इसलिए स्वीकृति निम्न शब्दों में करता है।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—दूसरे महाव्रत में मृषावाद-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश—मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं मृषा न बोलूँगा, न दूसरों से बुलवाऊँगा और न बोलने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पयन्त मैं मृषावाद से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—तीसरे महाव्रत में अदत्तादान-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ। गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त अदत्तादान मनसा, वाचा, कर्मणा मै स्वयं न लूँगा न दूसरों से लिवाउँगा और न लेने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं अदत्तादान से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—चौथे महाव्रत में मैथुन-विरति के लिए।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न सेवन करूँगा न दूसरों से सेवन करवाउँगा न सेवन करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं मैथुन से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ पाँचवे महाव्रत परिग्रह-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त, परिग्रह मनसा, वाचा, कर्मण मैं स्वयं न ग्रहण करूँगा न दूसरों से ग्रहण करवाऊँगा न ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं परिग्रह से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ छठे व्रत रात्रि-भोजन-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के असन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि में खाने का प्रत्याख्यान करता हूँ। मनसा, वाचा कर्मणा मैं स्वयं रात के समय न खाऊँगा, न दूसरों को खिलाऊँगा, न खाने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं रात्रि-भोजन से विरत होता हूँ।

गृहस्थ के मृषावाद आदि की स्थूल-विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत ोते हैं। स्थूल-मृषावाद-विरति, स्थूल अदत्तादान-विरति, स्वदार-सन्तोष और

इच्छा परिमाण—ये उनके नाम हैं। महाव्रतों की स्थिरता के लिए २५ भावनाएं हैं। प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएं हैं[३०]।

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतों की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पाँच महाव्रतों में मैथुन देह से अधिक सम्बन्धित है। इसलिए मैथुन-विरति की साधना के लिए विशिष्ट-नियमों की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना-मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान् है[३१]।

ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में प्रधान है[३२]। जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सब व्रतों को आराध लिया[३३]। जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं—वे आदि मोक्ष हैं। मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं[३४]। ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं[३५]।

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही दुष्कर है[३६]। इस आसक्ति को तरने वाला महासागर को तर जाता है[३७]।

कहीं पहले दण्ड, पीछे भोग है, और कहीं पहले भोग, पीछे दण्ड है—ये भोग संगकारक हैं[३८]। इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं किन्तु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है[३९]। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय हैं। ब्रह्मचारी की चर्या यूँ होनी चाहिए :—

(१) एकान्त वास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना।

(२) कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।

(३) परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना।

(४) दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।

(५) श्रुति-संयम—कर्ण-विकार पैदा करनेवाले शब्दों से बचना।

(६) स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।

(७) रस-संयम—पुष्ट-हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।

(८) अति-भोजन-संयम (मिताहार)—मात्रा और संख्या में कम खाना, बार-बार न खाना, जीवन-निर्वाह मात्र खाना।

(९) विभूषा-संयम—शृङ्गार न करना।

(१०) विषय-संयम—मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना[४०]।

(११) भेद-चिन्तन—विकार हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।

(१२) शीत और ताप सहना—ठंडक में खुले वदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।

(१३) सौकुमार्य-त्याग।

(१४) राग-द्वेष के विलय का संकल्प करना[४१]।

(१५) गुरु और स्थविर से मार्ग-दर्शन लेना।

(१६) अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।

(१७) स्वाध्याय में लीन रहना।

(१८) ध्यान में लीन रहना।

(१९) सूत्रार्थ का चिन्तन करना।

(२०) धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना[४२]।

(२१) शुद्धाहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।

(२२) कुशल साथी का सम्पर्क[४३]।

(२३) विकार-पूर्ण-सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन[४४]।

(२४) काय-क्लेश—आसन करना, साज-सज्जा न करना।

(२५) ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।

(२६) रूखा भोजन—रूखा आहार करना।

(२७) अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना[४५]।

(२८) विषय की नश्वरता का चिन्तन करना[४६]।

(२९) इन्द्रिय का बहिर्मुखी व्यापार न करना[४७]।

(३०) भविष्य-दर्शन—भविष्य में होनेवाले विपरिणाम को देखना[४८]।

(३१) भोग में रोग का संकल्प करना[४९]।

(३२) अप्रमाद—सदा जागरूक रहना—जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उच्च मान उसका सेवन करने लगता है, उसे पहले ब्रह्मचर्य में

शंका उत्पन्न होती है फिर क्रमशः आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य-नाश हो जाता है[५०]।

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि-ज्वाला को पार कर जाता है—वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम-भोग की आसक्ति को पार कर जाता है[५१]।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मोह का बन्धन टूटता है, त्यों-त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक बन्धन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किये गए हैं।

(१) सुलभ-बोधि—यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

(२) सम्यग् दृष्टि—यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

(३) अणुव्रती—यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम-स्थल बताए गए हैं :—

रूपक की भाषा में :—

क—एक भारवाहक बोझ से दबा जा रहा था। उसे जहाँ पहुँचना था, वह स्थान वहाँ से बहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुँच अपनी गठड़ी बाएं से दाहिने कन्धे पर रख ली।

ख—थोड़ा आगे बढ़ा और देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए गठड़ी नीचे रख दी।

ग—उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लम्बा था। वजन भी बहुत था। इसलिए उसे एक सार्वजनिक स्थान में विश्राम लेने को रुकना पड़ा।

घ—चौथी वार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वहीं जा ठहरा, जहाँ उसे जाना था।

गृहस्थ के लिए—(क) पांच शीलव्रतों का और तीन गुणव्रतों का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है (ख) समायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है, (ग) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध करना तीसरा विश्राम है (घ) अन्तिम मारणांतिक-संलेखना करना चौथा विश्राम है।

(४) प्रतिमा-धर—यह चौथा स्तर है[५२]। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है। इनके नाम, कालमान और विधि इस प्रकार है :—

नाम	कालमान
(१) दर्शन-प्रतिमा	एक मास
(२) व्रत-प्रतिमा	दो मास
(३) सामायिक-प्रतिमा	तीन मास
(४) पौषध-प्रतिमा	चार मास
(५) कायोत्सर्ग-प्रतिमा	पाँच मास
(६) ब्रह्मचर्य-प्रतिमा	छह मास
(७) सचित्ताहार वर्जन-प्रतिमा	सात मास
(८) स्वयं आरम्भ वर्जन-प्रतिमा	आठ मास
(९) प्रेष्यारम्भ वर्जन-प्रतिमा	नव मास
(१०) उद्दिष्ट भक्त वर्जन-प्रतिमा	दस मास
(११) श्रमणभूत-प्रतिमा	ग्यारह मास

विधि :—

पहली प्रतिमा में सर्व-धर्म (पूर्ण-धर्म)—रुचि होना, सम्यक्त्व-विशुद्धि रखना सम्यक्त्व के दोषों को वर्जना।

दूसरी प्रतिमा में पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध-उपवास करना।

तीसरी प्रतिमा में सामायिक और देशावकाशिक व्रत धारण करना।

चौथी प्रतिमा में अष्टमी, चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पालन करना।

पाँचवीं प्रतिमा में (१) स्नान नहीं करना (२) रात्रि-भोजन नहीं करना (३) धोती की लांग नहीं देना (४) दिन में ब्रह्मचारी रहना (५) रात्रि में मैथुन का परिमाण करना।

छठी प्रतिमा में सर्वथा शील पालना।

सातवीं प्रतिमा में सचित्त-आहार का परित्याग करना।

आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

नौवीं प्रतिमा में नौकर-चाकर आदि से आरम्भ समारम्भ न कराना।

दशवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना, बालों का क्षुर से मुण्डन करना अथवा शिखा धारण करना, घर सम्बन्धी प्रश्न करने पर मैं जानता हूँ या नहीं', इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलना।

ग्यारहवीं प्रतिमा में क्षुर से मुण्डन करना अथवा लुञ्चन करना और साधु का आचार, भण्डोपकरण एवं वेश धारण करना। केवल ज्ञाति-वर्ग से ही उसका प्रेम-बन्धन नहीं टूटता, इसलिए भिक्षा के लिए केवल ज्ञातिजनों में ही जाना।

(५) प्रमत्त मुनि—यह पाँचवा स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

(६) अप्रमत्त-मुनि—यह छठा स्तर है। प्रमत्त-मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद-दशा में वीतराग भाव आता है, केवल-ज्ञान होता है।

(७) अयोगी-यह सातवाँ स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियों की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलम्बन लिया जाता है। हिंसा हेय है—यह जानते हुए भी उसे सब नहीं छोड़ सकते। साधना के तीसरे स्तर में हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं :—

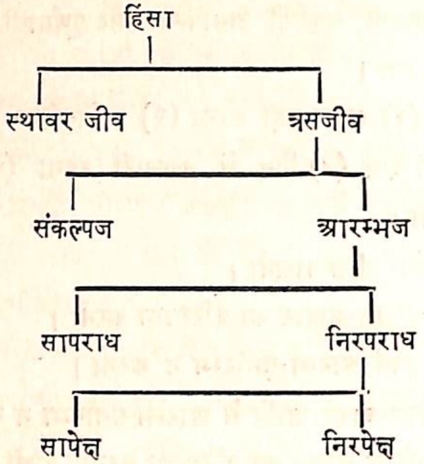

गृहस्थ के लिए आरम्भज कृषि, वाणिज्य आदि में होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए बध, बन्ध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्प-पूर्वक निरपराध त्रसजीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा-अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढ़ता है तब वह मुनि बनता है।

भूमिका-भेद को समझ कर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

समिति

जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक प्रवृत्तियां भी संयममय और संयमपूर्वक होनी चाहिए। वैसी प्रवृत्तियों को समिति कहा जाता है, वे पाँच हैं :—

(१) ईर्या—देखकर चलना।

(२) भाषा—निरवद्य वचन बोलना।

(३) एषणा—निर्दोष और विधिपूर्वक भिक्षा लेना।

(४) आदान-निक्षेप—सावधानी पूर्वक वस्तु को लेना व रखना।

(५) परिष्ठापना—मल-मूत्र का विसर्जन विधिपूर्वक करना। तात्पर्य की भाषा में इनका उद्देश्य है—हिंसा के स्पर्श से बचना।

गुप्ति

असत्-प्रवृत्ति तथा यथासमय सत् प्रवृत्ति का भी संवरण करना गुप्ति है। वे तीन हैं :—

(१) मनो-गुप्ति—मन की स्थिरता—मानसिक प्रवृत्ति का संयमन।

(२) वचन-गुप्ति—मौन।

(३) काय-गुप्ति—कायोत्सर्ग, शरीर का स्थिरीकरण।

मानसिक एकाग्रता के लिए मौन और कायोत्सर्ग अत्यन्त आवश्यक हैं। इसीलिए आत्म-लीन होने से पहले यह संकल्प किया जाता है—"मैं कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा आत्म-व्युत्सर्ग करता हूँ—आत्मलीन होता हूँ[५३]।"

आहार

आहार जीवन का साध्य तो नहीं है किन्तु उसकी उपेक्षा की जा सके, वैसा साधन भी नहीं है। यह मान्यता की जरूरत नहीं किन्तु जरूरत की मांग है।

शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर सोचा गया है पर इसके दूसरे पहलू बहुत कम छुए गए हैं। यह केवल शरीर पर ही प्रभाव नहीं डालता। उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन अपवित्र रहे तो शरीर की स्थूलता कुछ नहीं करती, केवल पाशविक शक्ति का प्रयोग कर सकती है। उससे सब घबड़ाते हैं।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाएँ कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते मूक प्राणियों की निर्मम हत्या करना बहुत ही क्रूर-कर्म है मांसाहार इसका बहुत बड़ा निमित्त है।

जैनाचार्यों ने आहार के समय, मात्रा और योग्य वस्तुओं के विषय में बहुत गहरा विचार किया है। रात्रि-भोजन का निषेध जैन-परम्परा से चला है। ऊनोदरी को तप का एक प्रकार माना गया। मिताशन पर बहुत भार दिया गया। मद्य, मांस, मादक पदार्थ और विकृति का वर्जन भी साधना के लिए आवश्यक माना गया।

तपयोग

भगवान् ने कहा—गौतम! विजातीय-तत्त्व से वियुक्त कर अपने आप में युक्त करने वाला योग मैंने बारह प्रकार का बतलाया है। उनमें (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश, (६) प्रतिसंलीनता—ये छह बहिरङ्ग योग हैं।

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग—ये छह अन्तरंग योग हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अनशन क्या है?

भगवान्—गौतम? आहार-त्याग का नाम अनशन है। वह (१) इत्वरिक (कुछ समय के लिए) भी होता है, तथा (२) यावत्-कथित (जीवन भर के लिए) भी होता है।

गौतम—भगवन्! ऊनोदरी क्या है?

भगवान्—गौतम! ऊनोदरी का अर्थ है कमी करना।

(१) द्रव्य-ऊनोदरी—खान-पान और उपकरणों की कमी करना।

(२) भाव-ऊनोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ और कलह की कमी करना।

इसी प्रकार जीविका-निर्वाह के साधनों का संकोच करना वृत्ति-संक्षेप है,

सरस आहार का त्याग रस परित्याग है।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है—बाहर से हट कर अन्तर् में लीन होना।

उसके चार प्रकार हैं—

(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता।

(२) कषाय-प्रतिसंलीनता—अनुदित क्रोध, मान, माया और लोभ का

निरोध; उदित क्रोध, मान माया और लोभ का विमूलीकरण।

(३) योग-प्रतिसंलीनता—अकुशल मन, वाणी और शरीर का निरोध; कुशल मन, वाणी और शरीर का प्रयोग।

(४) विविक्त-शयन-आसन का सेवन[५४]। इसकी तुलना पतञ्जलि के 'प्रत्याहार' से होती है। जैन-प्रक्रिया में प्राणायाम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उसके अनुसार विजातीय-द्रव्य या बाह्यभाव का रेचन और अन्तर भाव में स्थिर-भाव—कुम्भक ही वास्तविक प्राणायाम है।

भगवान् ने कहा—गौतम ! साधक को चाहिए कि वह इस देह को केवल पूर्व-सञ्चित मल पखालने के लिए धारण करे। पहले के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही इसे निबाहे। आसक्ति पूर्वक देह का लालन-पालन करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। आसक्ति बन्धन लाती है। जीवन का लक्ष्य है—बन्धन-मुक्ति। वह ऊर्ध्वगामी और सुदूर है[५५]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! सुख-सुविधा की चाह आसक्ति लाती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसलिए मैंने यथाशक्ति काय-क्लेश का विधान किया है[५६]।

गौतम ने पूछा भगवन् ! काय-क्लेश क्या है ?

भगवान्—गौतम ! काय-क्लेश के अनेक प्रकार हैं। जैसे—स्थान-स्थिति स्थिर शान्त खड़ा रहना—कायोत्सर्ग। स्थान-स्थिर—शान्त बैठे रहना—आसन। उत्कुटुक-आसन, पद्मासन, वीरासन, निषद्या, लकुट-शयन, दण्डायत—ये आसन हैं। बार-बार इन्हें करना।

आतापना—शीत-ताप सहना, निर्वस्त्र रहना, शरीर की विभूषा न करना, परिकर्म न करना—यह काय-क्लेश है[५७]।

यह अहिंसा—स्थैर्य का साधन है।

भगवान् ने कहा—गौतम ? आलोचना (अपने अधर्माचरण का प्रकाशन) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है। प्रतिक्रमण—(मेरा दुष्कृत विफल हो—इस भावनापूर्वक अशुभ कर्म से हटना) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है।

अशुद्ध वस्तु का परिहार, कायोत्सर्ग, तपस्या—ये सब पूर्वकृत पाप की विशुद्धि के हेतु हैं[५८]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! विनय के सात प्रकार हैं—(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धा का विनय, (३) चारित्र का विनय और (४) मन-विनय।

अप्रशस्त मन-विनय के बारह प्रकार हैं :—

(१) सावद्य, (२) सक्रिय, (३) कर्कश, (४) कटुक, (५) निष्ठुर, (६) परुष, (७) आस्रवकर, (८) छेदकर, (९) भेदकर, (१०) परिताप कर, (११) उपद्रव कर और (१२) जीव-घातक। इन्हें रोकना चाहिए।

प्रशस्त मन के बारह प्रकार इनके विपरीत हैं। इनका प्रयोग करना चाहिए।

(५) वचन-विनय—मन की भांति अप्रशस्त और प्रशस्त वचन के भी बारह-बारह प्रकार हैं।

(६) काय-विनय—अप्रशस्त-काय-विनय—अनायुक्त (असावधान) वृत्ति से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना, लांघना प्रलांघना, सब इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग करना। यह साधक के लिए वर्जित है। प्रशस्त-काय विनय—आयुक्त (सावधान) वृत्ति से चलना, यावत् शरीर प्रयोग करना—यह साधक के लिए प्रयुज्यमान है।

(७) लोकोपचार-विनय के सात प्रकार हैं :—

(१) बड़ों की इच्छा का सम्मान करना, (२) बड़ों का अनुगमन करना, (३) कार्य करना, (४) कृतज्ञ बने रहना, (५) गुरु के चिन्तन की गवेषणा करना, (६) देश-काल का ज्ञान करना और (७) सर्वथा अनुकूल रहना।

गौतम—भगवन् ! वैयावृत्य क्या है ?

भगवान्—गौतम ! वैयावृत्य का अर्थ है—सेवा करना, संयम को अवलम्बन देना।

साधक के लिए वैयावृत्य के योग्य दश श्रेणी के व्यक्ति हैं :—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष-नयासाधक, (४) रोगी,

(५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) साधर्मिक—समान धर्म आचार वाला, (८) कुल, (६) गण, (१०) संघ।

गौतम—भगवन् ! स्वाध्याय क्या है ?

भगवान्—गौतम ! स्वाध्याय का अर्थ है—आत्म-विकासकारी अध्ययन। इसके पांच प्रकार हैं।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन-स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा-चिन्तन (५) धर्म-कथा।

गौतम—भगवन्—ध्यान क्या है ?

भगवान्—गौतम ! ध्यान (एकाग्रता और निरोध) के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।

आर्त्त-ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, (२) मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, (३) रोग-निवृत्ति के लिए, (४) प्राप्त सुख-सुविधा का वियोग न हो इसके लिए, जो आतुर-भावपूर्वक एकाग्रता होती है, वह आर्त्त-ध्यान है।

(१) आक्रन्द, (२) शोक, (३) रुदन और (४) विलाप—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) हिंसानुबन्धी (२) असत्यानुबन्धी (३) चोर्यानुबन्धी प्राप्त भोग के संरक्षण सम्बन्धी जो चिन्तन है, वह रौद्र (क्रूर) ध्यान है।

(१) स्वल्प हिंसा आदि कर्म का आचरण (२) अधिक हिंसा आदि कर्म का आचरण (३) अनर्थ कारक शस्त्रों का अभ्यास (४) मौत आने तक दोष का प्रायश्चित्त न करना—ये चार उसके लक्षण हैं। ये दो ध्यान वर्जित हैं।

(१) आज्ञा-निर्णय (आगम या वीतराग वाणी), (२) अपाय, (दोष—हेय)-निर्णय, (३) विपाक (हेय-परिणाम)-निर्णय, (४) संस्थान-निर्णय—यह धर्म-ध्यान है।

(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेश-रुचि, (४) सूत्र-रुचि—यह चतुर्विध श्रद्धा उसका लक्षण है।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन, (४) धर्म-कथा—ये चार उसकी अनुप्रेक्षाएं हैं—चिन्त्य विषय हैं। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं :—

(१) भेद-चिन्तन (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार)

(२) अभेद-चिन्तन (एकत्व-वितर्क-अविचार)

(३) मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध (सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति)

(४) श्वासोछ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृति का निरोधपूर्ण अकम्पन-दशा (समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति)

(१) विवेक—आत्मा और देह के भेद-ज्ञान का प्रकर्ष।

(२) व्युत्सर्ग—सर्व-संग-परित्याग, (३) अचल उपसर्ग-सहिष्णु।

(४) असम्मोह—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मृदुता—ये चार उसके आलम्बन हैं।

(१) अपाय, (२) अशुभ, (३) अनन्त-पुद्गल-परावर्त्त, (४) वस्तु-परिणमन—ये चार उसकी अनुपेक्षाएं हैं। ये दो ध्यान-धर्म और शुक्ल आचरणीय हैं।

वितर्क का अर्थ श्रुत है। विचार का अर्थ है—वस्तु, शब्द और योग का संक्रमण।

ध्येय दृष्टि से वितर्क या श्रुतालम्बन के दो रूप हैं—(१) पृथक्त्व का चिन्तन—एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का चिन्तन। (२) एकत्व का चिन्तन—एक द्रव्य के एक पर्याय का चिन्तन।

ध्येय संक्रान्ति की दृष्टि से शुक्ल-ध्यान के दो रूप बनते हैं—सविचार और अविचार।

(१) सविचार (सकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग-(मन, वचन और शरीर) का परिवर्तन होता रहता है।

(२) अविचार (अकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग का परिवर्तन नहीं होता।

भेद चिन्तन की अपेक्षा अभेद-चिन्तन में और संक्रमण की अपेक्षा, संक्रमण-निरोध में ध्यान अधिक परिपक्व होता है।

धर्म-ध्यान के अधिकारी असंयत, देश-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत होते हैं[५९]।

शुक्ल-ध्यान—व्यक्ति की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और (२) एकत्व-वितर्क-अविचार के अधिकारी निवृत्ति बादर, अनिवृत्ति बादर, सूक्ष्म-सम्पराय, उपशान्त-मोह और क्षीण-मोह मुनि होते हैं[६०]।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति के अधिकारी सयोगी केवली होते हैं[६१]।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति के अधिकारी अयोगी केवली होते हैं[६२]।

योग की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—तीन योग (मन, वाणी और काय) वाले व्यक्ति के होता है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार—तीनों में से किसी एक योग वाले व्यक्ति के होता है।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति—काय-योग वाले व्यक्ति के होता है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति—अयोगी केवली के होता है[६३]।

गौतम—भगवन्! व्युत्सर्ग क्या है?

भगवान्—गौतम! शरीर, सहयोग, उपकरण और खान-पान का त्याग तथा कषाय, संसार और कर्म का त्याग व्युत्सर्ग है[६४]।

श्रमण संस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोड़कर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना—ये दोनों विचारधाराएं यहाँ रही हैं। दोनों का साध्य एक ही है—"निष्कर्म बन जाना"। भेद सिर्फ प्रक्रिया में है। पहली कर्म के सन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म-संन्यास साध्य की ओर द्रुत-गति से जाने का क्रम है और कर्म-योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढ़ता है। शोधन का मतलब संन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अंशका संन्यास होता है, उतने ही अंश में वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म-संन्यास का

अनुगामी मन्द-क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व-कर्म-निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का संन्यास प्रवृत्ति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिकनिकट है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धान्त-पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़ना, सत्-अंश का साधन के रूप में अवलम्बन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—असत्-प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक व्रत का ग्रहण और उसकी साधन सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह-नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। कोरा ममत्व-त्याग हो—पदार्थ-त्याग न हो,—यह मार्ग पहले क्षण में सरस भले लगे पर अन्ततः सरस नहीं है। पदार्थ-संग्रह अपने आप में सदोष या निर्दोष कुछ भी नहीं है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुड़कर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही संग्रह का संक्षेप होने लगता है और वह संन्यास की दशा में जीवन-निर्वाह का अनिवार्य साधन मात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। संस्कारों का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ-संग्रहके प्रति अल्प-मोह हो, किन्तु यह सामान्य-विधि नहीं है। पदार्थ-संग्रहसे दूर रह कर ही निर्मोह-संस्कार को विकसित किया जा सकता है, असंस्कारी-दशा का लाभ किया जा सकता है—यह सामान्य विधि है।

पदार्थवाद या जड़वाद का युग है। जड़वादी दृष्टिकोण संन्यास को पसन्द ही नहीं करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नहीं। किन्तु जो आत्मवादी और निर्वाण-वादी हैं, उन्हें कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया में नहीं भटक जाना चाहिए। संन्यास—जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नहीं होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म-मनीषियों के लिए चिन्तनीय है।

चिन्तन के आलोक में आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तबतक शरीर-सुख ही सब कुछ रहा। जब मनुष्य में विवेक जागा—आत्मा और शरीर दो हैं—यह भेद-ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य बन गया और शरीर साधन मात्र। आत्म-ज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणों ने कहा—दृष्टि मोह

आत्म-दर्शन में वाधा डालता है और चारित्र-मोह आत्म-उपलब्धि में। आत्म-साक्षात्कार के लिये संयम किया जाए, तप तपा जाए। संयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, और तपसे संचित मोह का व्यूह तोड़ा जा सकता है।

अकुव्वओ नवं नत्थि, कम्मं नाम वियाणइ।

सूत्र १।१५।७

भव कोडि संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।

उत्त०। ३०.६

ऋषियों ने कहा—आत्मा तप और ब्रह्मचर्य द्वारा लभ्य है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है—"मैं नहीं जानता—मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ[६५] ?

वैदिक संस्कृति का जबतक श्रमण-संस्कृति से सम्पर्क नहीं हुआ, तबतक उसमें आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ऋषियों को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध-बीज मिला, तबसे आश्रम-परम्परा का विकास हुआ, वे क्रमशः तीन और चार बने।

वेद-संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास-आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है, उल्टा जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है[६६]। उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है। क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले-पहल देखा जाता है[६७]।

श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है, और वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणों का। उपनिषदों में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिससे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि-मुनियों ने क्षत्रिय राजाओं से आत्म-विद्या सीखी।

(१) नचिकेता ने सूर्यवंशी शाखा के राजा वैवस्वत यमके पास आत्मा का रहस्य जाना[६८]।

(२) सनत्कुमार ने नारद से पूछा— बतलाओ तुमने क्या पढ़ा है ? नारद बोले—भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पाँचवाँ वेद……आदि—हे भगवन् ! यह सब मैं जानता हूँ। भगवन् ! मैं केवल मन्त्र-वेत्ता ही हूँ, आत्म-वेत्ता नहीं हूँ। सनत्कुमार आत्मा की एक-एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए,—यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है—'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्[६९]।

(३) प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महा श्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?— 'को न आत्मा किं ब्रह्मे ति' ? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण पुत्र उद्दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हें धन देना चाहा। उन मुनियों ने कहा—हम धन लेने नहीं आये हैं। आप वैश्वानर-आत्मा को जानते हैं, इसीलिए वही हमें बतलाइए। फिर राजाने उन्हें वैश्वानर-आत्मा का उपदेश दिया[७०]। काशी नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया[७१]।

(४) पांचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा—गौतम ! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है[७२]। प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे में पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचारांग के आरम्भ में कहा गया है—"कुछ लोग नहीं जानते थे कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा

या नहीं होगा? मैं कौन हूँ, पहले कौन था? यहाँ से मरकर कहाँ होऊँगा"[७३]।

श्रमण-परम्परा इन शाश्वत प्रश्नों के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा सम्भव नहीं, किन्तु उसका दृष्टिकोण देह-लक्षी नहीं रहा है। कहा जाता है— श्रमण-परम्परा ने समाज-रचना के बारे में कुछ सोचा ही नहीं। इसमें कुछ तथ्य भी है। भगवान् ऋषभदेव ने पहले समाज-रचना की और फिर वे आत्म-साधना में लगे। भारतीय-जीवन के विकास-क्रम में उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारम्भिक है। जिसका उल्लेख वैदिक और जैन—दोनों परम्पराओं में प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ समाज-व्यवस्था के सुन्दर ग्रन्थ हैं। यह सच भी है—जैन-बौद्ध मनीषियों ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शतांश भी समाज-व्यवस्था के बारे में नहीं लिखा। इसके कारण भी हैं— श्रमण-परम्परा का विकास आत्म-लक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए शाश्वत-सत्यों की व्याख्या में ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज-व्यवस्था को वे धर्म से जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म जो आत्म-गुण है, को परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुव रूप विकृत हो जाता है।

समाज-व्यवस्था का कार्य समाज-शास्त्रियों के लिए ही है। धार्मिकों को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज-व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधि-ग्रन्थ हैं, मोक्ष-ग्रन्थ नहीं? इन विधि-ग्रन्थों को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वयं प्रश्न-चिह्न बन रहा है। हिन्दू कोड़बिल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियों को शाश्वत सत्य का सा रूप मिल गया था श्रमण-परम्परा ने न तो विवाह आदि संस्कारों के अपरिवर्तित रूप का आग्रह रखा और न उन्हें शेष समाज से अलग बनाये रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनों की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन में बाधा न आये, व्रतों में दोष न लगे :—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।"

श्रमण-परम्परा ने धर्म को लौकिक-पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नहीं हो सकता। लौकिक विधियाँ भौगोलिक और सामयिक विविधताओं के कारण अनेक रूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' में लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एक-मेक कर दिया, इससे रूढ़िवाद को बहुत प्रश्रय मिला है धर्म शब्द के बहु-अर्थक प्रयोग से भी बहुत व्यामोह फैला है। धर्म-शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ बैठे। शाश्वत-सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओं का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियों को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। लोकमान्य तिलक के शब्दों में—"महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म संगत है' उस स्थान में धर्म-शब्द से कर्त्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन सामाज-व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पूर्वक उत्तरार्ध में 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है[७४]।

श्रमण-परम्परा इस विषय में अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर-धर्म के साथ लौकिक विधियों को जोड़ा नहीं। इसीलिए वह बराबर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने में सफल रही है और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण-परम्परा में भी वैदिकों की भाँति जाति और संस्कारों का आग्रह होता तो करोड़ों चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परम्परा का अनुगमन नहीं करते।

आज जो करोड़ों चीनी और जापानी श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं, वे इसीलिए हैं कि वे अपने संस्कारों और सामाजिक विचारों में स्वतंत्र रहते हुए भी श्रमण-परम्परा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वयकी भाषा में वैदिक परम्परा जीवन का व्यवहार-पक्ष है और श्रमण-परम्परा जीवन का लोकोत्तर पक्ष।

वैदिको व्यवहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है और न उन द्वारा प्राप्य है[७५]।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता में दोनों परम्पराएँ लगभग एक मत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—निष्कर्म-भाव की साधना। इसीका नाम है संयम। पहले चरण में कर्म-मुक्ति नहीं होती। किन्तु संयम का अर्थ है कर्म-मुक्ति के संकल्प से चल कर्म-मुक्ति तक पहुँच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे—धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्त्तक धर्म की देन है। निवर्त्तक-धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था में भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमें जाबालोपनिषद्, गौतम धर्म-सूत्र आदि में मिलते हैं—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही बनना, गृह में से बनी (वानप्रस्थ) होकर प्रव्रज्या—संन्यास लेना, अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रवर्ज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन प्रव्रर्ज्या लेना[७६]।

पं० सुखलाल जी ने अश्रम-विकास की मान्यता के बारे में लिखा है—'जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले पहल आये, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्त्तक धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा, पर निवर्त्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्त्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओंने पहले तो

वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान में दिया। निवर्त्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जन-व्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या-मार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो निवर्त्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवन में आज भी देखते हैं[७७]।

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह-त्याग का सिद्धान्त स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियों ने आश्रम-पद्धति से जो संन्यास की व्यवस्था की, वह भी यान्त्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। संन्यास का मूल अन्तःकरण का वैराग्य है। वह सब को आये, या अमुक अवस्था के ही बाद आये, पहले न आये, ऐसा विधान नहीं किया जा सकता। संन्यास आत्मिक-विधान है, यान्त्रिक स्थिति उसे जकड़ नहीं सकती। श्रमण-परम्परा ने दो ही विकल्प माने—अगार धर्म और अणगार धर्म—"अगार-धम्मं अणगार धम्मं च"[७८]।

श्रमण-परम्परा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नहीं है। साधना के क्षेत्र में नीच-ऊंच का विकल्प नहीं है। वहाँ संयम ही सब कुछ है। महावीर के शब्दों में—'कई गृह त्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है[७९]।

श्रेष्ठता व्यक्ति नहीं, संयम है। संयम और तप का अनुशीलन करने वाले, शान्त रहने वाले भिक्षु और गृहस्थ—दोनों का अगला जीवन भी तेजोमय बनता है[८०]।

समता-धर्म को पालने वाला, श्रद्धाशील और शिक्षा-सम्पन्न गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मौत के बाद स्वर्ग में जाता है[८१]।

किन्तु संयम का चरम-विकास मुनि-जीवन में ही हो सकता है। निर्वाण-लाभ मुनि को ही हो सकता है—यह श्रमण-परम्परा का ध्रुव अभिमत है।

मुनि-जीवन की योग्यता उन्हीं में आती है, जिनमें तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—"राजर्षि! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म-पोषक कार्य करो।

नमि राजर्षि बोले—ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा में कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं आता[८२]।

जिसे शाश्वत घर में विश्वास नहीं, वही नश्वर घर का निर्माण करता है[८३]।

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तब गृहवास ही सब कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तब आत्म-साक्षात्कार ही सब कुछ है। गृहवास और गृहत्याग का आधार है—आत्म-विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा—भगवन्! गृहवास असार है और गृह-त्याग सार—यह जानकर भला घर में कौन रहे? भगवान् ने कहा—गौतम! जो प्रमत्त हो वही रहे और कौन रहे[८४]।

किन्तु यह ध्यान रहे, श्रमण-परम्परा वेष को महत्त्व देती भी है और नहीं भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए—इस दृष्टि से वेष-परिवर्तन गृहवास का त्याग आदि-आदि बाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आन्तरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेष में आत्मा मुक्त हो सकता है[८५]।

मुक्ति—वेष या बाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नहीं होती, किन्तु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति में ही होता है। उसे सामान्य मार्ग नहीं माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति-लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए बाहरी वातावरण को उसके अनुकूल बनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नहीं। मार्ग में चलने वाला भटक भी सकता है। जैन-आगमों और बौद्ध-पिटकों में ऐसा यत्न किया गया है, जिससे

साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में विचिकित्सा न हो—इसलिए एकान्तवास, दृष्टि-संयम, स्वाद-विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादों को ध्यान में रख कर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मिक-उदय और अनुदय की परम्परा में पलने वाला पुरुष भटक भी सकता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नहीं है। ब्रह्मचारी संसर्ग से बचे, यह मान्यता भय नहीं किन्तु सुरक्षा है। संसर्ग से बचने वाले भिक्षु कामुक बने और संसर्ग करने वाले—साथ-साथ रहने वाले स्त्री-पुरुष-कामुक नहीं बने—यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धान्त नहीं। सिद्धान्ततः ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पाने वाला ब्रह्मचारी हो सकता है। उसके प्रतिकूल सामग्री में नहीं। भुक्ति और मुक्ति दोनों साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण-परम्परा में मान्य रहा है। पर उन दोनों की दिशाएं दो हैं और स्वरूपतः वे दो हैं, यह तथ्य कभी भी नहीं भुलाया गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नहीं है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्म-लक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्बलता मान सकता है, सम्पूर्णता नहीं। समाज में भोग प्रधान माने जाते हैं—यह चिरकालीन अनुश्रुति है, किन्तु श्रमण-धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए[८६]।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अंकुश का कार्य किया। "नहीं वेरेण वेराइं, सम्मंतीध कदाचन"—इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुँचाया, जिस तक—"जिते च लभ्यते लक्ष्मी-मृते चापि सुरांगना" का विचार पहुँच ही नहीं सका।

जैन और बौद्ध शासकों ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से बढ़ाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्याग परक संस्कृति से नहीं। कइयों ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण-परम्परा कर्म-विमुख होकर भारतीय संस्कृति के विकास में बाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक बात है और कर्म का निरसन दूसरी बात। श्रमण-परम्परा के

अनुसार कोरे ज्ञानवादी जो कहते हैं, किन्तु करते नहीं, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं[८७]।

"सम्यग्-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"—"यह जैनों का सर्व विदित वाक्य है। कर्म का नाश मोक्ष में होता है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नहीं जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति में होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दशा में उसे लगता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

श्रमण-परम्परा के दो पक्ष हैं—गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ-जीवन के पक्ष दो होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण-जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण-परम्परा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भांति एक रूप और अपरिवर्तनशील नहीं मानते। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणों के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नहीं सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतों का विधान किया गया, जबकि श्रमणों के लिए महाव्रतों की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछ एक ही हो सकते हैं। समाज का बड़ा भाग गृहस्थ जीवन बिताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष में—"कौन सा कर्म उचित है और कौन सा अनुचित"—इसका निर्णय देने का अधिकार समाज-शास्त्र को है, मोक्ष-शास्त्र को नहीं। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है—'कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्हीं दोनों से घिरे हुए हैं[८८]। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म—"पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं[८९]।

प्रमाद को बाल-वीर्य और अप्रमाद को पंडित-वीर्य कहा जाता है। जितना असंयम है, वह सब बाल-वीर्य या सकर्म-वीर्य है और जितना संयम है, सब पंडित-वीर्य या अकर्म-वीर्य है[९०]। जो अबुद्ध है, असम्यक्-दर्शी है, और असंयमी है, उसका पराक्रम—प्रमाद-वीर्य बन्धन कारक होता है[९१]। और जो बुद्ध है, सम्यक्-दर्शी है और संयमी है उनका पराक्रम—अप्रमाद-वीर्य मुक्ति-कारक होता है[९२]। मोक्ष-साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण—दोनों के

लिए अप्रमाद-वीर्य या अकर्म-वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नहीं किन्तु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म-मुक्त हो जाना, यही है श्रमण-परम्परा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परम्परा को भी यह अमान्य नहीं है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वे वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम को क्यों अपनाते। इन दोनों में गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कर्मों की विमुखता बढ़ती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नहीं हुई, इसीलिए अगले दो आश्रमों की उपादेयता लगी और उन्हें अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदल कर अपने चारों ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और संन्यासी दोनों ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमों को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परम्परा नहीं बची है। जिस किसी भी परम्परा में संसार-त्याग को आदर्श माना है, उसमें संसार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही संसार से विरक्ति है। संसार का मतलब गाँव या अरण्य नहीं, गृहस्थ और संन्यासी का वेष नहीं, स्त्री और पुरुष नहीं। संसार का मतलब है—जन्म-मरण की परम्परा और उसका कारण। वह है—मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है—"उड्ढं सोया, अहे सोया, तिरयं सोय" (आचारांग)।

मोह-रहित व्यक्ति गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। श्रमण-परम्परा कोरे वेष-परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान् ने कहा—"वह पास भी नहीं है, दूर भी नहीं है भोगी भी नहीं है, त्यागी भी नहीं है[९३]। भोग छोड़ा आसक्ति नहीं छोड़ी—वह न भोगी है न त्यागी। भोगी इसलिए नहीं कि वह भोग नहीं भोगता। त्यागी इसलिए नहीं कि वह भोग की वासना त्याग नहीं सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावना पूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है[९४]। यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम-व्यवस्था श्रौत नहीं है, किन्तु स्मार्त्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार—'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएं

हैं, उनकी एक वाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है[९५]।

समाज व्यवस्था के विचार से "कर्म करो" यह आवश्यक है। मोक्ष-साधना के विचार से "कर्म छोड़ो"— यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई[९६]। दूसरी दृष्टि से संन्यास को सर्व-श्रेष्ठ कहा गया—

प्रव्रजेच्च परं स्थातुं पारिव्राज्यमनुत्तमम्[९७]—

दोनों स्थितियों को एक ही दृष्टि से देखने पर विरोध आता है। दोनों को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, टक्कर की कोई बात ही नहीं। संन्यास-आश्रम के विरोध में जो वाक्य हैं, वे सम्भवतः उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए। संन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारों को नहीं रुचा। इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के बाद ही संसार-त्याग का, संन्यास लेने का विधान किया। गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य पूरा किये बिना जो श्रमण बनता है, उसका जीवन थोथा और दुःखमय है—यह महाभारत की घोषणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है। किन्तु यह समाज-व्यवस्था का विरोध अन्तःकरण की भावना को रोक नहीं सका।

श्रमण-परम्परा में श्रमण बनने का मानदण्ड यही—'संवेग' रहा है। जिन में वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके लिए गृहवास है ही। वे घर में रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस समग्र दृष्टिकोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम-व्यवस्था का यांत्रिक स्वरूप हृदयंगम नहीं होता। आज के लिए तो ७५ वर्ष की आयु के बाद संन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नहीं। अब रही कर्म की बात। खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तियाँ कर्म हैं। लोकमान्य के अनुसार जीना-मरना भी कर्म है[९८]।

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निषिध माने गए हैं। गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं[९९]। संक्षेप में "सर्वारम्भ

परित्याग" का आदर्श सभी आत्मवादी परम्पराओं में रहा है और उसकी आधार भूमि है—संन्यास। गृहवास की अपूर्णता से संन्यास का, भुक्ति की अपूर्णता से मुक्ति का, कर्म की अपूर्णता से ज्ञान का, स्वर्ग की अपूर्णता से अपवर्ग का और प्रवृत्ति की अपूर्णता से निवृत्ति का महत्त्व बढ़ा। ये भुक्ति आदि जीवन के अवश्यम्भावी अंग हैं और मुक्ति आदि लक्ष्य—इसी विवेक के सहारे भारतीय आदर्शों की समानान्तर रेखाएं निर्मित हुई हैं।

छह

११५-१२६

श्रमण-संस्कृति की दो धाराएं

श्रमण-परम्परा
तत्त्व-तथ्य या आर्य सत्य
दुःख
विज्ञान
वेदना
संज्ञा
संस्कार
उपादान
विचार-बिन्दु
दुःख का कारण
दुःख निरोध
दुःख निरोध का मार्ग
विचार-बिन्दु
चार सत्य

श्रमण-परम्परा

विश्वभर के दर्शन सम और असम रेखाओं से भरे पड़े हैं। चिन्तन और अनुभूति की धारा सरल और वक्र-दोनों प्रकार बहती रही है। साम्य और असाम्य का अन्वेषण मात्रा-भेद के आधार पर होता है। केवल साम्य या असाम्य ढूँढ़ने की वृत्ति सफल नहीं होती।

श्रमण-परम्परा की सारी शाखाएं दो विशाल शाखाओं में सिमट गईं। जैन और बौद्ध-दर्शन के आश्चर्यकारी साम्य को देख—"एक ही सरिता की दो धाराएँ बही हों"—ऐसा प्रतीत होने लगता है।

भगवान् पार्श्व की परम्परा अनुस्यूत हुई हो—यह मानना कल्पना-गौरव नहीं होगा।

शब्दों गाथाओं और भावनाओं की समता इन्हें किसी एक उत्स के दो प्रवाह मानने को विवश किए देती है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध—दोनों श्रमण, तीर्थ व धर्म-चक्र के प्रवर्तक, लोक-भाषा के प्रयोक्ता और दुख-मुक्ति की साधना के संगम-स्थल थे।

भगवान् महावीर कठोर तपश्चर्या और ध्यान के द्वारा केवली बने। महात्मा बुद्ध छह वर्ष की कठोर-चर्या से सन्तुष्ट नहीं हुए, तब ध्यान में लगे। उससे सम्बोधि-लाभ हुआ।

कैवल्य-लाभ के बाद भगवान् महावीर ने जो कहा, वह द्वादशांग—गणिपिटक में गुंथा हुआ है।

बोधि-लाभ के बाद महात्मा बुद्ध ने जो कहा, वह त्रिपिटक में गुंथा हुआ है।

तत्त्व—तथ्य या आर्य सत्य

भगवान् महावीर ने—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष—

इन नव तत्त्वों का निरूपण किया[1]।

महात्मा बुद्ध ने—दुःख, दुःख-समुदय, निरोध, मार्ग—

इन चार आर्य-सत्यों का निरूपण किया[२]।

दुःख

भगवान् महावीर ने कहा—पुण्य-पाप का वन्ध ही संसार है। संसार दुःखमय है। जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है[३]।

पाप-कर्म किया हुआ है तथा किया जा रहा है, वह सब दुःख है[४]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, व्याधि दुःख है, मरना दुःख है[५]।

विज्ञान

भगवान् महावीर ने कहा—

(१) जितने स्थूल अवयवी हैं, वे सब पाँच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले हैं—मूर्त्त या रूपी हैं[६]।

(२) चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप उसका ग्राह्य है।
कान शब्द का ग्राहक है और शब्द उसका ग्राह्य है।
नाक गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसका ग्राह्य है।
जीभ रस की ग्राहक है और रस उसका ग्राह्य है।
काय (त्वक्) स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श उसका ग्राह्य है।
मन-भाव (अभिप्राय) का ग्राहक है और भाव उसका ग्राह्य है।
चक्षु और रूप के उचित सामीप्य से चक्षु-विज्ञान होता है।
कान और शब्द के स्पर्श से श्रोत्र-विज्ञान होता है।
नाक और गन्ध के सम्बन्ध से घ्राण-विज्ञान होता है।
जीभ और रस के सम्बन्ध से रसना-विज्ञान होता है।
काय और स्पर्श के सम्बन्ध से स्पर्शन-विज्ञान होता है।
चिन्तन के द्वारा मनोविज्ञान होता है।

इन्द्रिय-विज्ञान रूपी का ही होता है। मनो-विज्ञान रूपी और अरूपी दोनों का होता है[७]।

वेदना

(३) अनुकूल वेदना के छह प्रकार हैं :—

(१) चक्षु-सुख (२) श्रोत्र-सुख (३) घ्राण-सुख (४) जिह्वा-सुख (५) स्पर्शन-सुख (६) मन-सुख[८]।

प्रतिकूल वेदना के छह प्रकार हैं—

(१) चक्षु-दुःख (२) श्रोत्र-दुःख (३) घ्राण-दुःख (४) जिह्वा-दुःख (५) स्पर्शन दुःख (६) मन-दुःख[९]।

संज्ञा

(४) चार संज्ञाएं (पूर्वानुभूत विषय की स्मृति और अनागत की चिन्ता या विषय की अभिलाषा) है—

(१) आहार-संज्ञा (२) भय-संज्ञा (३) मैथुन-संज्ञा (४) परिग्रह-संज्ञा[१०]।

संस्कार

(५) वासना—पांच इन्द्रिय और मन की धारणा के बाद की दशा है[११]।

उपादान

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ! जिस प्रकार काठ बल्ली, तृण तथा मिट्टी मिलाकर 'आकाश' (खला) को घेर लेते हैं और उसे घर कहते हैं, इसी प्रकार हड्डी, रगें, मांस तथा चर्म मिलकर आकाश को घेर लेते हैं और उसे 'रूप' कहते हैं।

आँख और रूप से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह चक्षु-विज्ञान कहलाता है। कान और शब्द से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह श्रोत्र-विज्ञान कहलाता है। नाक और गन्ध से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह घ्राण-विज्ञान कहलाता है। काय (स्पर्शेन्द्रिय) और स्पृशतव्य से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह काय-विज्ञान कहलाता है।

मन तथा धर्म (मन-इन्द्रिय के विषय) से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह मनोविज्ञान कहलाता है।

उस विज्ञान में का जो रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है[१२]।

उस विज्ञान में की जो वेदना है, वह वेदना उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है, उस विज्ञान में की जो संज्ञा है, वह संज्ञा-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है, जो उस विज्ञान में के जो संस्कार है, वह संस्कार उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

जो उस विज्ञान (चित्त) में का विज्ञान (मात्र) है, वह विज्ञान—उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि बिना रूप के, बिना वेदना के, बिना संज्ञा के, बिना संस्कार के, विज्ञान—चित्त-मन की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, उत्पन्न होना, वृद्धि तथा विपुलता को प्राप्त होना—हो सकता है, तो यह असम्भव है [१३]।

दुःखवाद भारतीय दर्शन का पहला आकर्षण है। जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे को दुःख[१४] और अज, अमर, अजर, अरुज को सुख माना गया है[१५]।

विचार-बिन्दु

जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापा—ये परिणाम हैं। महात्मा बुद्ध ने इन्हीं के निर्मूलन पर बल दिया। उसमें से करुणा का स्रोत बहा।

भगवान् महावीर ने दुःख के कारणों को भी दुःख माना और उनके उन्मूलन की दशा में ही जनता का ध्यान खींचा[१६]। उसमें से संयम और अहिंसा का स्रोत बहा।

दुःख का कारण

भगवान् महावीर ने कहा—बलाका अण्डे से और अण्डा बलाका से पैदा होता है, वैसे ही मोह—तृष्णा से और तृष्णा मोह से पैदा होती है[१७]।

प्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव राग को उभारते हैं।

अप्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव द्वेष को उभारते हैं।

प्रिय-विषयों में आदमी फंस जाता है। अप्रिय-विषयों से दूर भागता है। प्रिय-विषयों में अतृप्त आदमी परिग्रह में आसक्त बनता है। असन्तोष के दुःख से दुखी बनकर वह चोरी करता है।

तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[१८]।

चोरी करने वाले के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता [१९]।

प्रिय विषयों में अतृप्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[२०]।

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[२१]।

दुःख आरम्भ से पैदा होता है[२२]।

दुःख हिंसा से पैदा होता है[२३]।

दुःख कामना से पैदा होता है[२४]।

जहाँ आरम्भ है, हिंसा, है, कामना है, वहाँ राग-द्वेष है। जहाँ राग-द्वेष है—वहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, हर्ष, विषाद, हास्य, भय, शोक और वासनाएं हैं[२५]। जहाँ ये सब हैं, वहाँ कर्म (बन्धन) है। जहाँ कर्म है, वहाँ संसार है; जहाँ संसार है, वहाँ जन्म है। जहाँ जन्म है, वहाँ जरा है, रोग है, मौत है। जहाँ ये हैं, वहाँ दुःख है[२६]।

भव-तृष्णा विषैली बेल है। यह भयंकर है और इसके फल बड़े डरावने होते हैं[२७]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—मनुष्य अपनी आंख से रूप देखता है। प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर हो तो उससे दूर भागता है। कान से शब्द सुनता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। घ्राण से गन्ध सूंघता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। जिह्वा से रस चखता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। काय से स्पर्श करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। मन से मन के विषय (धर्म) का चिन्तन करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है। अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है।

इस प्रकार आसक्त होनेवाला तथा दूर भागनेवाला जिस दुःख-सुख वा अदुख-असुख, किसी भी प्रकार की वेदना-अनुभूति का अनुभव करता है, वह उस वेदना में आनन्द लेता है, प्रशंसा करता है, उसे अपनाता है। वेदना को जो अपना बनाना है, वही उसमें राग उत्पन्न होना है। वेदना में जो राग है,

वही उपादान है। जहाँ उपादान है, वहाँ भव है, जहाँ भव है, वहाँ पैदा होना है, जहाँ पैदा होना है, वहाँ बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—सब हैं। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख का समुदय होता है।

दुःख निरोध

भगवान् महावीर ने कहा—ये अर्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—प्रिय भी नहीं हैं, अप्रिय भी नहीं हैं, हितकर भी नहीं हैं, अहितकर भी नहीं हैं। ये प्रियता और अप्रियता के निमित्तमात्र हैं। उनके उपादान राग और द्वेष हैं, इस प्रकार अपने में छिपे रोग को जो पकड़ लेता है, उसमें समता या मध्यस्थ-वृत्ति पैदा होती है। उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है। विरक्ति आने के बाद ये अर्थ प्रियता भी पैदा नहीं करते, अप्रियता भी पैदा नहीं करते [२८]।

जहाँ विरक्ति है, वहाँ विरति है। जहाँ विरति है, वहाँ शान्ति है, जहाँ शान्ति है वहाँ निर्वाण है[२९]।

सब द्वन्द्व मिट जाते हैं—आधि-व्याधि, जन्म-मौत आदि का अन्त होता है, वह शान्ति है।

द्वन्द्व के कारण भूतकर्म विलीन हो जाते हैं, वह निरोध है। यही दुःख निरोध है[३०]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—काम-तृष्णा और भव-तृष्णा से मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता [३१]। क्योंकि तृष्णा के सम्पूर्ण निरोध से उपादान निरूद्ध हो जाता है। उपादान निरूद्ध हुआ तो भव निरूद्ध। भव निरूद्ध हुआ तो पैदाइस निरूद्ध। पैदा होना निरूद्ध हुआ तो बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—यह सब निरूद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भिक्षुओं! यह जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है—यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरामरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, संज्ञा का निरोध है, संस्कारों का निरोध है तथा

विज्ञान का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।

यही शान्ति है, यही श्रेष्ठता है, यह जो सभी संस्कारों का शमन, सभी चित्त-मलों का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग-स्वरूप, निरोध स्वरूप निर्वाण है।

दुःख निरोध का मार्ग

भगवान् महावीर ने ऋजु मार्ग को देखा[32]। वह ऋजु (सीधा) है, इसलिए महाघोर है[33], दुश्चर है[34]।

वह अनुत्तर है, विशुद्ध है, सब दुःखों का अन्त करनेवाला है[35] उसके चार अङ्ग हैं[36]।

सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चरित्र, सम्यक्-तप।

इसकी अल्प-आराधना करने वाला अल्प-दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी मध्यम आराधना करने वाला सब दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी पूर्ण आराधना करने वाला सब दुःखों से मुक्त होता है।

यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य, अनर्थकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का का दुःखमय, अनार्य, अनर्थकर जीवन है, इन दोनों सिरे की बातों से बचकर तथागत ने मध्यम-मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया जो कि आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देने वाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है—

यही आर्य अष्टांगिक मार्ग दुःख-निरोध की ओर ले जाने वाला है; जो कि यूँ है—

१	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा
२	सम्यक् संकल्प	
३	सम्यक् वाणी	शील
४	सम्यक् कर्मान्त	
५	सम्यक् आजीविका	

६ सम्यक् व्यायाम	समाधि
७ सम्यक् स्मृति	
८ सम्यक् समाधि	

निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही एक मार्ग है और कोई मार्ग नहीं[३७]। इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का नाश करोगे।

विचार बिन्दु

महात्मा बुद्ध ने केवल मध्यम-मार्ग का आश्रय लिया। उसमें आपद्-धर्मों या अपवादों का प्राचुर्य रहा। भगवान् महावीर आपद्-धर्मों से दूर होकर चले। काय-क्लेश को उन्होंने अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक माना। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि बल, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल की मर्यादा को समझकर ही आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिए[३८]।

गृहस्थ-श्रावकों के लिए जो मार्ग है, वह मध्यम-मार्ग है।

चार सत्य

महात्मा बुद्ध ने चार सत्यों का निरूपण व्यवहार की भूमिका पर किया जबकि भगवान्-महावीर के नव तत्त्वों का निरूपण अधिक दार्शनिक है।

संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय—ये चार सत्य पातञ्जल भाष्यकार ने भी माने हैं।

उन्होंने इसकी चिकित्सा-शास्त्र के चार अङ्गों—रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य से तुलना की है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओं! "जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता[३९]। और जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनों एक हैं"—ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ! इन दोनों सिरे की बातों को छोड़कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते हैं—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने

से नामरूप, नामरूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओं ! इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं।

अविद्या के ही सम्पूर्ण विराग से, निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान-निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनों का निरोध, छह आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव-निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढ़ापा, शोक, रोने-पीटने, दुःख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भगवान् महावीर ने जीव और अजीव का स्पष्ट व्याकरण किया। उनने कहा—जीव शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव चेतन है, शरीड़ जड़ है—इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। संसारी जीव शरीर से बन्धा हुआ है, उसी के द्वारा अभिव्यक्त और प्रवृत्त होते हैं, इसलिए वे अभिन्न भी हैं।

आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं हैं, मोक्ष का उपाय नहीं है—ये छह मिथ्या-दृष्टि के स्थान हैं[४०]।

आत्मा है, वह नित्य भी है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है—ये छह सम्यक्-दृष्टि के स्थान हैं[४१]।

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं। यह विश्व का निरूपण है[४२]।

पुण्य, पाप और बन्ध—यह दुःख (संसार) है[४३]! आस्रव दुःख (संसार) का हेतु है। मोक्ष दुःख (संसार) का निरोध है। संवर और निर्जरा दुःख निरोध (मोक्ष) के उपाय हैं।

जीव और अजीव—ये दो मूलभूत सत्य हैं। अजीव से जीव के विश्लेषण की प्रक्रिया का अर्थ है—साधना। शेष सात तत्त्व साधना के अङ्ग हैं। संक्षिप्त रूप में ये सात तत्त्व और चार आर्य-सत्य सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

सात

१२७-१५४

जैन-दर्शन और वर्तमान युग

साम्य-दर्शन
निःशस्त्रीकरण (शस्त्र-परिज्ञा)
शस्त्रीकरण के हेतु
प्रतिष्ठा का व्यामोह
शस्त्रीकरण का परिणाम
नेतृत्त्व का महत्त्व
पाण्डित्य
शस्त्र-प्रयोक्ता
अविवेक और विवेक
निःशस्त्रीकरण का अधिकारी
शस्त्र-प्रयोग से दूर
अशस्त्र की उपासना
मित्र और शत्रु
चैतन्य का सूक्ष्म जगत्
ज्ञान और वेदना (अनुभूति)
अहिंसा का सिद्धान्त
हिंसा चोरी है
निःशस्त्रीकरण की आधार शिला
आत्मा का सम्मान
वस्तु सत्य
व्यवहार सत्य
व्यक्ति और समुदाय
अन्तर्राष्ट्रीय-निरपेक्षता
ऐकान्तिक आग्रह
समन्वय की दिशा में प्रगति
पंचशील

साम्प्रदायिक-सापेक्षता
सामञ्जस्य का आधार मध्यम-मार्ग
शांति और समन्वय
सह-अस्तित्व की धारा
सह-अस्तित्त्व का आधार-संयम
स्वत्व की मर्यादा
निष्कर्ष
नयः सापेक्ष दृष्टियां
दुर्नयः निर्पेक्ष दृष्टियां

साम्य-दर्शन

दर्शन के सत्य ध्रुव होते हैं। उनकी अपेक्षा त्रैकालिक होती है। मानव-समाज की कुछ समस्याएं बनती-मिटती रहती हैं। किन्तु कुछ समस्याएं मौलिक होती हैं। वार्तमानिक समस्या का समाधान करने का उत्तरदायित्व वर्तमान के समाज-दर्शन पर होता है। दर्शन उन समस्याओं का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओं को उत्पन्न भी करती है।

वैषम्य, शस्त्रीकरण और युद्ध—ये त्रैकालिक समस्याएं हैं। किन्तु वर्तमान में ये उग्र बन रही हैं। अणु-युग में शस्त्रीकरण और युद्ध के नाम प्रलय की सम्भावना उपस्थित कर देते हैं। आज के मनीषी इस सम्भावना के अन्त का मार्ग ढूंढ रहे हैं। मार्क्स ने साम्य का मार्ग खोज निकाला। समाज-दर्शन में उसका विशिष्ट स्थान है। उसके पीछे शक्ति का सुदृढ़ तन्त्र है। इसलिए उसे साम्य का स्वतन्त्र-विकासात्मक रूप नहीं कहा जा सकता। भगवान् महावीर ने साम्य का जो स्वर-उद्बुद्ध किया, वह आज अधिक मननीय है। भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूँ, हे वादियो ! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय ?" यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[1]। "जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, तोड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और तत्त्वों को होता है"—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उसे परिताप नहीं पहुंचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए[2]।

इस साम्य-दर्शन के पीछे शक्ति का तन्त्र नहीं है, इसलिए यह समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। समूचा विश्व अहिंसा या साम्य की चर्चा कर

रहा है। इस संस्कार की पृष्ठभूमि में जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। कायिक और मानसिक अहिंसा और उसकी वैयक्तिक और सामाजिक साधना का सुव्यवस्थित रूप जैन तीर्थंकरों ने दिया, यह इतिहास द्वारा भी अभिमत है।

निःशस्त्रीकरण (शस्त्र-परिज्ञा)

जीवन की सारी चर्याओं का प्रधान-स्रोत आत्म-चर्या है। उसके दो पक्ष हैं—आचार और विचार। आचार का फल विचार है। विचार का सार आचार है। आचार से विचार का सम्वादन होता है, पोष मिलता है। विचार से आचार को प्रकाश मिलता है।

आचार का प्रधान अंग निःशस्त्रीकरण है।

पाषाण-युग से अणुयुग तक जितने उत्पीड़क और मारक शस्त्रों का आविष्कार हुआ है, वे निष्क्रिय-शस्त्र (द्रव्य-शस्त्र) हैं। उनमें स्वतः प्रेरित घातक-शक्ति नहीं है।

भगवान् ने कहा—गौतम ! सक्रिय-शस्त्र (भाव-शस्त्र) असंयम है। विध्वंस का मूल वही है। निष्क्रिय-शस्त्रों में प्राण फूंकनेवाला भी वही है। उसे भली-भाँति समझ कर छोड़ने का यत्न करना ही निःशस्त्रीकरण है।

शस्त्रीकरण के हेतु

भगवान् ने कहा—यह मनुष्य (१) चिरकाल तक जीने के लिए, (२ ४) प्रतिष्ठा, सम्मान और प्रशंसा के लिए, (५) जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए, (६) दुःख-मुक्ति के लिए—शस्त्रीकरण करता है[३]।

प्रतिष्ठा का व्यामोह

"आज तक नहीं किया गया, वह करूंगा" इस भूल-भुलैया में फंसे हुए लोग भटक जाते हैं। वे दूसरों को डराते हैं, सताते हैं, मारते हैं, लूट खसौट करते हैं[४]।

वे नहीं जानते कि मौत के करोड़ों दरवाजे हैं[५]।

जीवन दौड़ रहा है।

वे नहीं देखते कि मौत के लिए कोई दिन छुट्टी का नहीं है[६]।

जीवन नश्वर है।

वे नहीं सोचते कि मौत के समय कोई शरण नहीं देता[७]।

जीवन अत्राण है।

शस्त्रीकरण का परिणाम

शस्त्रीकरण करने वाला, कराने वाला, उसका अनुमोदन करने वाला एक दिशा से दूसरी दिशा में पर्यटन करता है। उनके स्थान निम्न होते हैं :— कोई अन्धा होता है तो कोई काना, कोई बहरा होता है तो कोई गूंगा, कोई कुवड़ा और कोई बौना, कोई काला और कोई चितकबरा—यूं उनका संसार रंग विरंगा होता है[८]।

नेतृत्व का महत्त्व

जो व्यक्ति शस्त्र-प्रयोग के द्वारा दूसरों को जीतना चाहते हैं—वे दिङ्-मूढ़ हैं। लोक-विजय के लिए शस्त्रीकरण को प्रोत्साहन देने वाले जनता को घोर अन्धकार में ले जा रहे हैं। वे कल्याण-कारक नेता नहीं हैं। दिङ्-मूढ़ नेता और उसका अनुगामी समाज, ये दोनों अन्त में पछताते हैं[९]। अन्धा अन्धों को सही पथ पर नहीं ले जा सकता[१०]। इसलिए नेतृत्व का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। सफल नेता वही हो सकता है, जो दूसरों के अधिकारों को कुचले बिना निजी स्रोतों को ही विकासशील बनाए।

पाण्डित्य

जो समय को समझता है, उसका मूल्य आंकता है, वह पण्डित है[११]। वह व्यामूढ़ नहीं बनता। वह समय को समझ कर चलता है। मंद व्यक्ति मोह के भार से दब जाता है। वह न आर-गामी होता है और न पारगामी—न इधर का रहता है और न उधर का[१२]। जो व्यक्ति अलोभ से लोभ को जीतते हैं, वे पारगामी हैं; जन-मानस के सम्राट् हैं[१३]।

लोक-विजय के लिए जन-बल और शस्त्र-बल का संग्रह और प्रयोग करने वाले अदूरदर्शी हैं[१४]। दूरदर्शी जो होते हैं, वे शस्त्र-प्रयोग न करते, न करवाते और न करनेवाले का समर्थन ही करते। लोक-विजय का यही मार्ग है। इसे समझने वाला कहीं भी नहीं बंधता। वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि और स्वतन्त्र गति से चलता है[१५]।

शस्त्र-प्रयोक्ता

जो प्रमत्त हैं, वे शस्त्र का प्रयोग करते हैं। जो काम-भोग के अर्थी हैं, वे शस्त्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् ने कहा—अपने या पर के लिए या विना प्रयोजन ही जो शस्त्र का प्रयोग करते हैं, वे विपदा के भँवर में फँस जाते हैं[१६]।

अविवेक और विवेक

भगवान् ने कहा—शस्त्रीकरण अविवेक (अपरिज्ञा) है। इसके कटु परिणामों को जान कर जो इसे छोड़ देता है, वह विवेक (परिज्ञा) है[१७]।

निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

भगवान् ने कहा—गौतम ! मैं पहले कहाँ था ? कहाँ से आया हूँ ? पहले कौन था आगे क्या होऊँगा ? यह संज्ञान जिसे नहीं होता, वह अनात्मवादी है।

अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता[१८]। इन दिशाओं और अनुदिशाओं में सञ्चारी तत्त्व जो है, वह मैं ही हूँ (सोऽहम्), इसे जाननेवाला आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, कर्म को जानता है, क्रिया को जानता है।

आत्मा को जानने वाला ही निःशस्त्रीकरण कर सकता है[१९]।

शस्त्र-प्रयोग से दूर

जो अपनी पीर जानता है, वही दूसरों की पीर जान सकता है[२०]। जो दूसरों की पीर जानता है, वही अपनी पीर जान सकता है[२१]।

सुख दुःख की अनुभूति व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी होती है। आत्म-तुला की यथार्थ अनुभूति हुए विना प्रत्येक जीव सभी जीवों के 'शस्त्र' (हिंसक) होते हैं[२२]।

'अशस्त्र' (अहिंसक) वे ही हो सकते हैं, जिन्हें साम्य और अभेद में कोई भेद न जान पड़े। भगवान्‌ने अहिंसा के उच्च-शिखर से पुकारा पुरुष ! देख—"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिस पर तू शासन करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू कष्ट देना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू अधीन करना चाहता है, वह तू ही है जिसे तू सताना चाहता है, वह तू ही

है[३३]।" हंतव्य और घातक, शासितव्य और शासक में समता है किन्तु एकत्व नहीं है। कर्त्ता के साथ क्रिया दौड़ती है और उसका परिणाम पीछे लगा आता है। सरल चक्षु से देखता है, वह दूसरों को मारने में अपनी मौत देखता है, दूसरों को शासित और अधीन करने में अपनी परवशता देखना है, दूसरों को सताने में अपना सन्ताप देखता है। एक शब्द में क्रिया की प्रतिक्रिया (अनु-संवेदन) देखता है, इसलिए वह किसी को भी मारना व अधीन करना नहीं चाहता।

शस्त्रीकरण (पाप) से वे ही बच सकते हैं, जो गम्भीरता (अध्यात्म-दृष्टि) पूर्वक शस्त्र-प्रयोग में अपना अहित देखते हैं[२४]।

जो खेदज्ञ हैं, वे ही अशस्त्र का मर्म जानते हैं, जो अशस्त्र का मर्म जानते हैं, वे ही खेदज्ञ हैं[२५]।

जो दूसरों की आशंका, भय या लाज से शस्त्रीकरण नहीं करते, वे तत्काल-दृष्टि (अन्-अध्यात्म-दृष्टि—बहिर्-दृष्टि) हैं। वे समय आने पर शस्त्रीकरण से बच नहीं सकते[२६]।

अशस्त्र की उपासना

जो सर्वदा और सर्वथा अशस्त्र है, वही परमात्मा है। अशस्त्रीकरण की ओर प्रगति ही उसकी उपासना है। आत्माएं अनन्त हैं। वे किसी एक ही विशाल-वृक्ष के अवयव मात्र नहीं हैं। सबकी स्वतन्त्र सत्ता है[२७]।

जो व्यक्ति दूसरी आत्माओं की प्रभु-सत्ता में हस्तक्षेप करते हैं, वे परमात्मा की उपासना नहीं कर सकते।

भगवान् ने कहा—सर्व-जीव-समता का आचरण ही सत्य है। इसे केन्द्र-बिन्दु मान चलने वाले ही परमात्मा की उपासना कर सकते हैं[२८]।

मित्र और शत्रु

भगवान् ने कहा—पुरुष ! बाहर क्या ढूंढ़ रहा है ? अन्दर आ और देख तू ही तेरा मित्र है[२९]। ओ पुरुष ! तू ही तेरा मित्र और तू ही तेरा शत्रु है जो किसी का भी अमित्र नहीं, वही अपने आपका मित्र है[३०]। जो किसी एक का भी अमित्र है, वह सबका अमित्र है—आत्मा की सर्व-सम-सत्ता का अमित्र है[३१]।

जो आत्मा के अमित्र हैं, वे परमात्मा की उपासना नहीं कर सकते।

चैतन्य का सूक्ष्म जगत्

जो व्यक्ति सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व नहीं मानते, वे अपना अस्तित्व भी नहीं मानते। जो अपना अस्तित्व नहीं मानते हैं, वे ही सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व नहीं मानते। वे अनात्मवादी हैं। आत्मवादी ऐसा नहीं करते। वे जैसे अपना अस्तित्व मानते हैं, वैसे ही सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व भी मानते हैं[३२]।

मिट्टी का एक ढेला, जल की एक बूंद, अग्नि का एक कण, कोंपल को हिला सके उतनी सी वायु में असंख्य जीव हैं। सुई की नोक टिके, उतनी वनस्पति में असंख्य या अनन्त जीव हैं।

ज्ञान और वेदना (अनुभूति)

जीव के दो विशेष गुण हैं—ज्ञान और वेदना (सुख-दुःख की अनुभूति)।

अमनस्क (जिनके मन नहीं होता, उन) जीवों का ज्ञान अस्पष्ट होता है, वेदना स्पष्ट होती हैं[३३]।

समनस्क (जिनके मन होता है, उन) जीवों का ज्ञान और वेदना दोनों स्पष्ट होते हैं[३४]।

भगवान् ने विशाल ज्ञान-चक्षु से देखा और कहा—गौतम ! इन छोटे जीवों में भी सुख-दुख की संवेदना है[३५]।

अहिंसा का सिद्धान्त

प्राणी मात्र को जीना प्रिय है, मौत अप्रिय; सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय। इसलिए मतिमान् मनुष्य को किसी का प्राण न लूटना चाहिए[३६]।

जीव-बध न करना ही ज्ञानी के ज्ञान का सार है और यही अहिंसा का सिद्धान्त है[३७]।

हिंसा चोरी है

सूक्ष्म जीव अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते हैं ? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते हैं, वे उनकी चोरी करते हैं[३८]।

निःशस्त्रीकरण की आधारशिला—सब जीव समान हैं

(क) परिमाण की दृष्टि से :—

जीवों के शरीर भले छोटे हों या बड़े, आत्मा सब में समान है। चींटी और हाथी—दोनों की आत्मा समान हैं[३९]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! चार वस्तुएं समतुल्य हैं—आकाश (लोकाकाश), गति-सहायक-तत्त्व (धर्म), स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्म) और एक जीव—इन चारों के अवयव बराबर हैं[४०]। तीन व्यापक हैं। जीव कर्म शरीर से बंधा हुआ रहता है, इसलिए वह व्यापक नहीं बन सकता। उसका परिमाण शरीर-व्यापी होता है। शरीर—मनुष्य, पशु, पक्षी—इन जातियों के अनुरूप होता है शरीर-भेद के कारण प्रसरण-भेद होने पर भी जीव के मौलिक परिमाण में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। इसलिए परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ख) ज्ञान की दृष्टि से :—

मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति का ज्ञान सब से कम विकसित होता है। ये एकेन्द्रिय हैं। इन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। इनकी शारीरिक दशा दयनीय होती है। इन्हें छूने मात्र से अपार कष्ट होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पंचेन्द्रिय, समनस्क पंचेन्द्रिय—ये जीवों के क्रमिक विकास-शील वर्ग हैं। ज्ञान का विकास सब जीवों में समान नहीं होता किन्तु ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान होती है। प्राणी मात्र में अनन्त ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान-सामर्थ्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ग) वीर्य की दृष्टि से :—

कई जीव प्रचुर उत्साह और क्रियात्मक वीर्य से सम्पन्न होते हैं तो कई उनके धनी नहीं होते। शारीरिक तथा पारिपार्श्विक साधनों की न्यूनाधिकता व उच्चावचता के कारण ऐसा होता है। आत्म-वीर्य या योग्यतात्मक वीर्य में कोई न्यूनाधिक्य व उच्चावचात्व नहीं होता, इसलिए योग्यतात्मक वीर्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(घ) अपौद्गलिकता की दृष्टि से :—

किन्हीं का शरीर सुन्दर, जन्म-स्थान पवित्र व व्यक्तित्व आकर्षक होता हैं और किन्हीं का इसके विपरीत होता हैं।

कई जीव लम्बा जीवन जीते हैं, कई छोटा, कई यश पाते हैं और कई नहीं पाते या कुयश पाते हैं, कई उच्च कहलाते हैं और कई नीच, कई सुख की अनुभूति करते हैं और कई दुःख की। ये सब पौद्गलिक उपकरण हैं। जीव अपौद्गलिक है, इसलिए अपौद्गलिकता की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ङ) निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से :—

कई व्यक्ति हिंसा करते हैं—कई नहीं करते, कई झूठ बोलते हैं—कई नहीं बोलते, कई चोरी और संग्रह करते हैं—कई नहीं करते, कई वासना में फँसते हैं—कई नहीं फँसते। इस वैषम्य का कारण मोह (मोहक-पुद्गलों) का उदय व अनुदय है। मोह के उदय से व्यक्ति में विकार आता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये विकार (विभाव) हैं। मोह के अनुदय से व्यक्ति स्वभाव में रहता है—अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह स्वभाव है। विकार औपाधिक होता है। निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(च) स्वभाव-बीज की समता की दृष्टि से :—

आत्मा परमात्मा है। पौद्गलिक उपाधियों से बन्धा हुआ जीव संसारी-आत्मा है। उनसे मुक्त जीव परमात्मा है। परमात्मा के आठ लक्षण हैं :—

(१) अनन्त-ज्ञान, (२) अनन्त-दर्शन, (३) अनन्त-आनन्द, (४) अनन्त-पवित्रता, (५) अपुनरावर्तन, (६) अमूर्त्तता—अपौद्गलिकता, (७) अगुरु-लघुता—पूर्ण साम्य, (८) अनन्त-शक्ति।

इन आठों के बीज प्राणीमात्र में सममात्र होते हैं। विकास का तारतम्य होता है। विकास की दृष्टि से भेद होते हुए भी स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से सब जीव समान हैं।

यह आत्मौपम्य या सर्व-जीव-समता का सिद्धान्त ही निःशस्त्रीकरण की आधार-शिला है।

आत्मा का सम्मान

आत्मा से आत्मा का सजातीय सम्बन्ध है। पुद्गल उसका विजातीय

तत्त्व है। जाति और रंग-रूप—ये पौद्गलिक हैं। सजातीय की उपेक्षा कर विजातीय को महत्त्व देना प्रमाद है।

चक्षुष्मन्! तू देख, जो प्रमादी हैं वे स्वतन्त्रता से कोसों दूर हैं[४१]। प्रमादी को चारों ओर से डर ही डर लगता है। अप्रमादी को कहीं भी डर नहीं दीखता[४२]।

जहाँ जाति, कुल, रंग-रूप, शक्ति, ऐश्वर्य, अधिकार, विद्या और तपस्या का गर्व है वहाँ आत्मा का तिरस्कार है। आत्मा का सम्मान करनेवाला ही नम्र होता है। वह ऊँचा उठता है[४३]।

पुद्गल का सम्मान करनेवाला उद्धत है, वह नीचे जाता है[४४]।

आत्मा का सर्व-सम-सत्ता को सम्मान देनेवाला ही लोक-विजेता बन सकता है।

वस्तु-सत्य

भगवान् महावीर ने कहा—जो है उसे मिटाने की मत सोचो। तुम्हारा अस्तित्व तुम्हें प्यारा है, उनका अस्तित्व उन्हें प्यारा है। जो नहीं है, उसे बनाने की मत सोचो।

डोरी को इस प्रकार खींचो कि गांठ न पड़े। मनुष्य को इस प्रकार चलाओ कि लड़ाई न हो। बालों को इस प्रकार संवारो कि उलझन न बने। विचारों को इस प्रकार ढालो कि भिड़न्त न हो। तात्पर्य की भाषा में—आक्षेप और आक्रमण की नीति मत बरतो। उससे गांठ घुलती है, युद्ध छिड़ते हैं, बाल उलझते हैं और चिनगारियाँ उछलती हैं।

भगवान् ने कहा—आक्षेप-नीति के पीछे यथार्थ-दृष्टिकोण और तटस्थभाव नहीं होता, इसलिए वह आग्रह, दुर्नय और एकान्त की नीति है। आक्षेप को छोड़ो, सत्य उतर आएगा।

भगवान् ने कहा—एक ओर यह अखण्ड विश्व की अविभक्त-सत्ता है और दूसरी ओर यह खण्ड का चरम रूप व्यक्ति है।

व्यक्ति का आक्षेप करनेवाली सत्ता और सत्ता का आक्षेप करनेवाला व्यक्ति—दोनों भटके हुए हैं। सत्ता का स्व व्यक्ति है। व्यक्ति की विशाल शृङ्खला सत्ता है। सापेक्षता में दोनों का रूप निखर उठता है।

यह व्यक्ति और समष्टि की सापेक्ष-नीति जैन-दर्शन का नय है। इसके अनुसार समष्टि-सापेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति-सापेक्ष समष्टि—दोनों सत्य हैं। समष्टि-निरपेक्ष-व्यक्ति और व्यक्ति-निरपेक्ष-समष्टि—दोनों मिथ्या हैं।

व्यवहार-सत्य

नय-वाद ध्रुव सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार-सत्य है। हमारा जीवन वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी। इन दोनों कक्षाओं में नय की अर्हता है।

सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामञ्जस्य आता है। उसका परिणाम है मैत्री, शान्ति और व्यवस्था। निरपेक्ष-नीति अवहेलना, तिरस्कार और घृणा पैदा करती है। परिवार, जाति, गांव, राज्य, राष्ट्र और विश्व—ये क्रमिक विकासशील संगठन है। संगठन का अर्थहै सापेक्षता। सापेक्षता का नियम जो दो के लिए है, वही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लिए है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व साधता है, वहाँ असमंजसता खड़ी हो जाती है। उसका परिणाम है—कटुता, संघर्ष और अशान्ति।

निरपेक्षता के पाँच रूप बनते हैं :—

१—वैयक्तिक, २—जातीय, ३—सामाजिक, ४—राष्ट्रीय, ५—अन्तर्-राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—वर्ग-भेद, अलगाव, अव्यवस्था, संघर्ष, शक्ति-क्षय, युद्ध और अशान्ति।

सापेक्षता के रूप भी पाँच हैं :—

१—वैयक्तिक, २—जातीय, ३—सामाजिक, ४—राष्ट्रीय ५—अन्तर्-राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—समता-प्रधान-जीवन, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-संवर्धन, मैत्री और शान्ति।

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति अकेला ही नहीं आता। वह बन्धन के बीज साथ लिए आता है। अपने हाथों उन्हें सींच विशाल वृक्ष बना लेता है। वही निकुञ्ज उसके लिए

बन्धन-गृह बन जाता है। बन्धन लादे जाते हैं, यह दिखाऊ सत्य है। टिकाऊ सत्य यह है कि बन्धन स्वयं विकसित किए जाते हैं।

उन्हीं के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुड़कर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेद-रेखा खींचना सरल कार्य नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति ही है। सब स्थितियों में वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है।

पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है, वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आन्तरिक क्षेत्र वैयक्तिक है, वह उससे जितना बाहर जाता है उतना ही सामुदायिक बनता चलता है।

व्यक्ति को समाज-निरपेक्ष और समाज को व्यक्ति-निरपेक्ष मानना एकान्त पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनों की स्थिति असमञ्जस बनती हैं।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य।

इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मथनी के रूपक में चित्रित किया है। मन्थन के समय एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। दूसरा आगे आता है, पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है। एकान्त आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय-निरपेक्षता

बहुता और अल्पता, व्यक्ति और समूह के ऐकान्तिक आग्रह पर असन्तुलन बढ़ता है, सामञ्जस्य की कड़ी टूट जाती है।

अधितम मनुष्यों का अधितम हित—यह जो सामाजिक उपयोगिता का सिद्धान्त है, वह निरपेक्ष नीति पर आधारित है। इसीके आधार पर हिटलर ने यहूदियों पर मनमाना अत्याचार किया।

बहु संख्यकों के लिए अल्प संख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों के हितों का बलिदान करने के सिद्धान्त का औचित्य एकान्तवाद की देन है।

सामन्तवादी युग में बड़ों के लिए छोटों के हितों का त्याग उचित माना जाता था। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़े राष्ट्रों के लिए छोटे राष्ट्रों की उपेक्षा आज भी होती है। यह अशान्ति का हेतु बनता है। सापेक्ष-नीति के अनुसार किसी के लिए भी किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को नगण्य मान उन्हें आगे आने का अवसर नहीं देते। इस निरपेक्ष-नीति की प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप छोटे राष्ट्रों में बड़ों के प्रति अस्नेह-भाव उत्पन्न हो जाता है। वे संगठित हो उन्हें गिराने की सोचते हैं। घृणा के प्रति घृणा और तिरस्कार के प्रति तिरस्कार तीव्र हो उठता है।

अविकसित एशिया के प्रति विकसित राष्ट्रों की जो निरपेक्ष नीति रही, उसकी प्रतिक्रिया फूट रही है। एशियाई राष्ट्रों में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति जो दुराव है, यह उसीका परिणाम है। परिवर्तन के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले राष्ट्र सम्हल गए। उन्होंने अपने लिए कुछ सद्भावना का वातावरण बना लिया।

ब्रिटेन ने शस्त्रहीन भारत, बर्मा और लंका को समय की मांग के साथ-साथ स्वतन्त्र कर निरपेक्ष (नास्ति-सर्वत्र-वीर्यवादी) नीति को छोड़ा तो उसकी सापेक्ष नीति सफल रही।

फ्रान्स ने भी भारत के कुछ प्रदेश और हालैण्ड ने जावा, सुमात्रा आदि को छोड़ा, वह भी इसी कोटि का कार्य है। पुर्तगाल अब भी निरपेक्ष (अस्ति-सर्वत्र-वीर्यवादी) नीति को लिए बैठा है और गोआ के प्रश्न पर अड़ा बैठा है। समय-मर्यादा के अनुसार निरपेक्ष-नीति का निर्वाह हो सकता है किन्तु उसके भावी परिणामों से नहीं बचा जा सकता।

मैत्री की पृष्ठभूमि सत्य है, वह ध्रुवता और परिवर्तन दोनों के साथ जुड़ा हुआ है। अपरिवर्तन जितना सत्य है, उतना ही सत्य है परिवर्तन। अपरिवर्तन को नहीं जानता वह चक्षुष्मान् नहीं है, वैसे ही वह भी अचक्षुष्मान् है जो परिवर्तन को नहीं समझता।

वस्तुएं बदलती हैं, क्षेत्र बदलता है, काल बदलता है, विचार बदलते हैं, इनके साथ स्थितियां बदलती हैं। बदलते सत्य को जो पकड़ लेता है, वह सामञ्जस्य की तुला में चढ़ दूसरों का साथी बन जाता है।

समय-समय पर हुई राज्यक्रान्तियों ने राज्यसत्ताओं को बदल डाला। राज्य की सीमाएं बदलती रही हैं। शासन काल बदलता रहा है। शासन की पद्धतियां भी बदलती रही हैं। इन परिवर्तनों का एक मूल्यांकन करनेवाले ही अशान्ति को टाल सकते हैं। गाँधी, नेहरू और पटेल अखन्ड भारत के सिद्धान्त पर अड़े ही रहते, जिन्ना की माँग को स्वीकार नहीं करते तो सम्भवतः अशान्ति उग्र रूप लेती। किन्तु उनकी सापेक्ष-नीति ने वस्तु, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के मूल्यांकन द्वारा अशान्ति को निर्वीर्य बना दिया।

ऐकान्तिक आग्रह

भारत में राज्य पुनर्-रचना को लेकर अभी-अभी जो असन्तुलन आया, वह केवल आग्रही मनोवृत्ति का निदर्शन है। भारत की अखण्डता में निष्ठा रखनेवाले काश्मीर से कन्याकुमारी तक एक झण्डे की सत्ता स्वीकार करनेवाले प्रान्त-रचना जैसे छोटे प्रश्न पर उलझ गए। हिंसा को उभारने लग गए।

भारत संवर्ग व संघात्मक राज्य है। संविधान की तीसरी धारा के द्वारा पार्लियामेंट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विधि द्वारा राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी, राज्य का क्षेत्र घटा-बढ़ा सकेगी, नया राज्य बना सकेगी।

इस व्यवस्था के विरुद्ध जो आन्दोलन चला, वह परिवर्तन की मर्यादा को न समझने का परिणाम है। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्निर्माण में जो तथ्य है, तथ्य केवल वही नहीं है।

भाषा की विविधता में जो सांस्कृतिक एकात्मकता है, वह भी तो एक तथ्य है।

भेदात्मक प्रवृत्तियों के ऐकान्तिक आग्रह से अखण्डता का नाश होता है।

अभेदात्मक वृत्ति के एकान्त आग्रह से खण्ड की वास्तविकता और उपयोगिता का लोप होता है।

राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता के कारण उन्हें अपनी पृथक् विशेषताओं को विकसित करने का अवसर मिलता है। संघ संबद्ध होने के कारण उन्हें एक साथ मिलकर विकास करने का अवसर भी मिलता है।

इस समन्वयवादी-नीति में पृथक्ता में पल्लवन पानेवाले स्वातन्त्र्य-बीज का विनाश भी नहीं होता और सामुदायिक शक्ति और सुरक्षा के विकास का लाभ भी मिल जाता है।

स्विस लोगों में जर्मन, फ्रेंच और इटालियन—ये तीन भाषाएँ चलती हैं। इस विभिन्नता के उपरान्त भी वे एक कड़ी से जुड़े हुए हैं।

संवर्ग या संघात्मक राज्य में जो विभिन्नता और समता के समन्वय का अवसर मिलता है, वह प्रत्येक राज्य की पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता में नहीं मिल सकता।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि व्यष्टि और समष्टि तथा अपरिवर्तन और परिवर्तन के समन्वय से व्यवहार का सामञ्जस्य और व्यवस्था का सन्तुलन होता है—वह इनके असमन्वय में नहीं होता।

समन्वय की दिशा में प्रगति

समन्वय का सिद्धान्त जैसे विश्व-व्यवस्था से सम्बद्ध है, वैसे ही व्यवहार व उपयोगिता से भी सम्बद्ध है। विश्व-व्यवस्था में जो सहज सामञ्जस्य है, उसका हेतु उसीमें निहित है। वह है—प्रत्येक पदार्थ में विभिन्नता और समता का सहज समन्वय। यही कारण है कि सभी पदार्थ अपनी स्थिति में क्रियाशील रहते हैं। उपयोगिता के क्षेत्र में सहज समन्वय नहीं है, इसलिए वहाँ सहज सामञ्जस्य भी नहीं है। असामञ्जस्य का कारण एकान्त-बुद्धि और एकान्त-बुद्धि का कारण पक्षपातपूर्ण बुद्धि है।

स्व और पर का भेद तीव्र होता है, तटस्थ वृत्ति क्षीण हो जाती है, हिंसा का मूल यही है।

अहिंसा की जड़ है मध्यस्थ-वृत्ति—लाभ और अलाभ में वृत्तियों का सन्तुलन।

स्व के उत्कर्ष में पर की हीनता का प्रतिबिम्ब होता है। पर के उत्कर्ष में स्व की हीनता की अनुभूति होती है। ये दोनों ही एकान्तवाद हैं।

एक जाति या राष्ट्र दूसरी जाति या राष्ट्र पर हावी हुआ या होता है, वह इसी एकान्तवाद की प्रतिच्छाया है।

पर के जागरण-काल में स्व के उत्कर्ष का पारा ऊँचा चढ़ा नहीं रह सकता। वहाँ दोनों मध्य-रेखा पर आ जाते हैं। इनका दृष्टिकोण सापेक्ष बन जाता है।

आज की राजनीति सापेक्षता की दिशा में गति कर रही है। कहना चाहिए—विश्व का मानस अनेकान्त को समझ रहा है और व्यवहार में उतार रहा है।

स्वेज के प्रश्न पर शान्ति, सद्भावना, मैत्री और समझौतापूर्ण दृष्टि से विचार करने की जो गूंज है, वह वृत्तियों के सन्तुलन की प्रगति का स्पष्ट संकेत है। यही घटना यदि सन् १९४६ या ३९ में घटी होती तो परिणाम भयंकर हुआ होता किन्तु यह सन् ५६ है।

इस दशक का मानस समन्वय की रेखा को और स्पष्ट खींच रहा है। भगवान् महावीर का दार्शनिक मध्यम मार्ग ज्ञात-अज्ञात रूप में विकसित हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पंचशील की गूंज, बांडुंग सम्मेलन में उनमें और पांच सिद्धान्तों का समावेश, २९ राष्ट्रों द्वारा उनकी स्वीकृति—ये सब समन्वय के प्रगति-चिह्न हैं।

पंच शी

१—एक दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान।

२—अनाक्रमण।

३—अन्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

४—समानता एवं परस्पर लाभ।

५—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

दश सिद्धान्त

बांडुंग सम्मेलन द्वारा स्वीकृत दश सिद्धान्त ये हैं :—

१. मूल मानव-अधिकारों और संयुक्त-राष्ट्र-उद्देश्य-पत्र के उद्देश्यों के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के प्रति आदर।

२. सभी राष्ट्रों की प्रभु-सत्ता और प्रादेशिक अखण्डता के लिए सम्मान।

३. छोटे बड़े सभी राष्ट्र और जातियों की समानता को मान्यता।

४. अन्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

५. संयुक्त-राष्ट्र-उद्देश्य-पत्र के अनुसार अकेले अथवा सामूहिक रूप से आत्म रक्षा के प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार के प्रति आदर।

६. किसी भी बड़ी शक्ति के स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा के आयोजनों के उपयोग से अलग रहना, एक देश का दूसरे देश पर दबाव न डालना।

७. ऐसे कार्यों—आक्रमण अथवा बल-प्रयोग की धमकियों से अलग रहना, जो किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध हों।

८. सभी आन्तरिक झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना।

९. पारस्परिक हित एवं उपयोग को प्रोत्साहन देना।

१०. न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के लिए सम्मान।

१३ जून ५५ को नेहरू, बुल्गानिन के संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर हुए। उनमें पंचशील का तीसरा सिद्धान्त अधिक व्यापक रूप में मान्य हुआ है— "किसी भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैद्धान्तिक कारण से एक दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करना।"

इस राजनीतिक नयवाद की दार्शनिक नयवाद और सापेक्षवाद से तुलना कीजिए।

१—कोई भी वस्तु और वस्तु-व्यवस्था स्याद्वाद या सापेक्षवाद की मर्यादा से बाहर नहीं है[४५]।

२—दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं। उनमें सहानवस्थान (एक साथ न टिक सके) जैसा विरोध नहीं है[४६]।

३—जितने वचन-प्रकार हैं उतने ही नय हैं[४७]।

४—ये विशाल ज्ञानसागर के अंश हैं[४८]।

५—ये अपनी-अपनी सीमा में सत्य हैं[४९]।

६—दूसरे पक्ष से सापेक्ष हैं तभी नय हैं[५०]।

७—दूसरे पक्ष की सत्ता में हस्तक्षेप, अवहेलना व आक्रमण करते हैं तब वे दुर्नय बन जाते हैं[५१]।

८—सब नय परस्पर में विरोधी हैं—पूर्ण साम्य नहीं है किन्तु सापेक्ष हैं, एकत्व की कड़ी से जुड़े हुए हैं, इसलिए वे अविरोधी सत्य के साधक हैं[५२]। क्या संयुक्त-राष्ट्र संघ के निर्माण का यह आधारभूत सत्य नहीं है, जहाँ विरोधी राष्ट्र भी एकत्रित होकर विरोध का परिहार करने का यत्न करते हैं।

९. एकान्त अविरोध और एकान्त विरोध से पदार्थ-व्यवस्था नहीं होती। व्यवस्था की व्याख्या अविरोध और विरोध की सापेक्षता द्वारा की जा सकती है[५३]।

१०. जितने एकान्तवाद या निरपेक्षवाद हैं, वे सब दोषों से भरे पड़े हैं।

११. ये परस्पर ध्वंसी हैं—एक दूसरे का विनाश करने वाले हैं[५४]।

१२. स्याद्वाद और नयवाद में अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता—ये सामञ्जस्यकारक सिद्धान्त हैं।

इनका व्यावहारिक उपयोग भी असन्तुलन को मिटाने वाला है।

साम्प्रदायिक सापेक्षता

धार्मिक क्षेत्र भी सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामञ्जस्य की रंग-भूमि बना हुआ है।

समन्वय का पहला प्रयोग वहाँ होना चाहिए। समन्वय का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा ही धर्म है। धर्म का ध्वंसक कीटाणु है—साम्प्रदायिक आवेश।

आचार्य श्री तुलसी द्वारा सन् १९५४ में बम्बई में प्रस्तुत साम्प्रदायिक एकता के पांच व्रत इस अभिनिवेश के नियंत्रण का सरल आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जांए।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

सामञ्जस्य का आधार मध्यम मार्ग

भेद और अभेद—ये हमारी स्वतंत्र चेतना, स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र सत्ता के प्रतीक हैं। ये विरोध और अविरोध के साधन नहीं हैं। अविरोध का आधार यदि अभेद होगा तो भेद विरोध का आधार अवश्य बनेगा।

अभेद और भेद—ये वस्तु या व्यक्ति के नैसर्गिक गुण हैं। इनकी सह-स्थिति ही व्यक्ति या वस्तु है। इसलिए इन्हें अविरोध या विरोध का साधन नहीं बनाना चाहिए। भेद भी अविरोध का साधन बने—यही समन्वय से प्रतिफलित साधना का स्वरूप है। यही है अहिंसा, मध्यस्थवृत्ति, तटस्थ नीति या साम्य-योग।

जाति, रंग और वर्ग के भेदों को लेकर जो संघर्ष चल रहे, हैं उनका आधार विषम मनोवृत्ति है। उसके बीज की उर्वर भूमि एकान्तवाद है। निरंकुश एकाधिपत्य और अराजकता—ये दोनों ही एकान्तवाद हैं। वाणी, विचार, लेख और मान्यता का नियन्त्रण स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अपहरण है।

अराजकता में समूचा जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। सामञ्जस्य की रेखा इनके बीच में है।

व्यक्ति अकेलेपन और समुदाय के मध्य-बिन्दु पर जीता है। इसलिए उसके सामञ्जस्य का आधार मध्यम-मार्ग ही हो सकता है।

शान्ति और समन्वय

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ मूल्यों के द्वारा ही शान्ति का अर्जन व उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तु-स्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है।

पूर्व मान्यता या रूढ़ि के कारण कुछ व्यक्ति या राष्ट्र स्थिति का यथार्थ मूल्य नहीं आंकते या आंकना नहीं चाहते—वे अतीतदर्शी हैं।

अतीत-दर्शन के आधार पर वर्तमान (ऋजुसूत्र-नय) की अवहेलना करना निरपेक्ष-नीति है। इसका परिणाम है असामञ्जस्य। इसके निदर्शन जनवादी चीन और उसे मान्यता न देनेवाले राष्ट्र बन सकते हैं। वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारा दृष्टिकोण एवम्भूत होना चाहिए। जो वर्ग वर्तमान में चीन के भू-भाग का शासक नहीं है, वह उसका सर्व-सत्ता-सम्पन्न प्रभु कैसे होगा? च्यांग का राष्ट्रवादी चीन और माओ का जनवादी चीन एक नहीं हैं। अवस्था-भेद से नाम-भेद जो होता है, वह मूल्यांकन की महत्त्वपूर्ण दिशा (समभिरूढ़-नय) है।

डलेस ने गोआ को पुर्तगाल का उपनिवेश कहा और खलबली मच गई।

इस अधिकार-जागरण के युग में उपनिवेश का स्वर एवम्भूत दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है।

अमरीकी मजदूर नेता श्री वाल्टर रूथर के शब्दों में "एशिया में अमरीका की विदेश नीति शक्ति और सैनिक गठ-बन्धनों पर आधारित है, अवास्तविक है। अमेरिका ने एशिया की सद्भावना को बुरी तरह से खो दिया है।

गोआ के बारे में अमरीकी परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने जो कुछ कहा, इस से स्पष्ट है कि वे एशियाई भावना को नहीं समझते[५५]।

यह असंदिग्ध सत्य है—शक्ति-प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्भावना का अन्त और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिंसा में निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नहीं सूझती। समन्वय और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति से समन्वय और समन्वय से शान्ति होती है।

सह-अस्तित्व की धारा

प्रभु-सत्ता की दृष्टि से सब स्वतन्त्र राष्ट्र समान हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से सब समान नहीं भी हैं। अमेरिका शस्त्र-बल और धन-बल दोनों से समृद्ध है। रूस सैन्य-बल और श्रम-बल से समृद्ध हैं। चीन और भारत जन-बल से समृद्ध हैं। ब्रिटेन व्यापार-विस्तार की कला से समृद्ध है। कुछ राष्ट्र प्राकृतिक

साधनों से समृद्ध हैं। समृद्धि का कोई न कोई भाग सभी को मिला है। सामर्थ्य की विभिन्न कक्षाएँ बँटी हुई हैं। सब पर किसी एक की प्रभु-सत्ता नहीं है। एक दूसरे में पूर्ण साम्य और वैषम्य भी नहीं है। कुछ साम्य और कुछ वैषम्य से वंचित भी कोई नहीं है। इसलिए कोई किसी को मिटा भी नहीं सकता और मिट भी नहीं सकता। वैषम्य को ही प्रधान मान जो दूसरे को मिटाने की सोचता है, वह वैषम्यवादी नीति के एकान्तीकरण द्वारा असामञ्जस्य की स्थिति पैदा कर डालता है।

साम्य को ही एकमात्र प्रधान मानना भी साम्यवादी नीति का ऐकान्तिक आग्रह है। दोनों के ऐकान्तिक आग्रह के परिणाम-स्वरूप ही आज शीत-युद्ध का बोलबाला है।

वैषम्य और साम्य दोनों विरोधी अवश्य हैं पर निरपेक्ष नहीं हैं। दोनों सापेक्ष हैं और दोनों एक साथ टिक सकते हैं।

विरोधी युगलों के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल एक साथ ही रहते हैं। जिस पदार्थ में कुछ गुणों की आस्तिता है, उसमें कुछ की नास्तिता है। यह आस्तिता और नास्तिता एक ही पदार्थ के दो विरोधी किन्तु सह-अवस्थित धर्म हैं।

सहावस्थान विश्व की विराट् व्यवस्था का अंग है। यह जैसे पदार्थाश्रित है, वैसे ही व्यवहाराश्रित है। इसी की प्रतिध्वनि भारतीय प्रधान-मन्त्री पण्डित नेहरू के पंचशील में है। साम्यवादी और जनतन्त्री राष्ट्र एक साथ जी सकते हैं—राजनीति के रंगमंच पर यह घोष बलशाली बन रहा है। यह समन्वय के दर्शन का जीवन-व्यवहार में पड़नेवाला प्रतिबिम्ब है।

वैयक्तिकता, जातीयता, सामाजिकता, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता—ये निरपेक्ष रूप में बढ़ते हैं, तब असामञ्जस्य को लिए ही बढ़ते हैं।

व्यक्ति और सत्ता दोनों भिन्न ही हैं, यह दोनों के सम्बन्ध की अवहेलना है।

व्यक्ति ही तत्त्व है—यह राज्य की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार है। राज्य ही तत्त्व है—यह व्यक्ति की सत्ता का तिरस्कार है। सरकार ही तत्त्व है—यह

स्थायी तत्त्व—जनता का तिरस्कार है। जहाँ तिरस्कार है, वहाँ निरपेक्षता है। जहाँ निरपेक्षता है, वहाँ असत्य है। असत्य की भूमिका पर सह-अस्तित्व का सिद्धान्त पनप नहीं सकता।

सह-अस्तित्व का आधार—संयम

भगवान् ने कहा—सत्य का बल संजोकर सबके साथ मैत्री साधो[५६]। सत्य के बिना मैत्री नहीं। मैत्री के बिना सह-अस्तित्व का विकास नहीं।

सत्य का अर्थ है—संयम। संयम से वैर-विरोध मिटता है, मैत्री विकास पाती है। सह-अस्तित्व चमक उठता है! असंयम से बैर बढ़ता है[५७]। मैत्री का स्वर क्षीण हो जाता है। स्व के अस्तित्व और पर के नास्तित्व से वस्तु की स्वतंत्र-सत्ता बनती है। इसीलिए स्व और पर दोनों एक साथ रह सकते हैं।

अगर सहानवस्थान व परस्पर-परिहार-स्थिति जैसा विरोध व्यापक होता तो न स्व और पर ये दो मिलते और न सह-अस्तित्व का प्रश्न ही खड़ा होता। सह-अस्तित्व का सिद्धान्त राजनयिकों ने भी समझा है। राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध का आधार जो कूटनीति था, वह बदलने लगा है। उसका स्थान सह-अस्तित्व ने लिया है। अब समस्याओं का समाधान इसी को आधार मान खोजा जाने लगा है। किन्तु अभी एक मंजिल और पार करनी है।

दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना त्यागे बिना सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सफल नहीं होता। स्याद्वाद की भाषा में—स्वयं की सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही दूसरे पदार्थों की असत्ता भी उसका गुण है। स्वापेक्षा से सत्ता और परापेक्षा से असत्ता—ये दोनों गुण पदार्थ की स्वतन्त्र-व्यवस्था के हेतु हैं। स्वापेक्षया सत्ता जैसे पदार्थ या गुण है, वैसे ही परापेक्षया असत्ता उसका गुण नहीं होता तो द्वैत होता ही नहीं। द्वैत का आधार स्व-गुण-सत्ता और पर-गुण-असत्ता का सहावस्थान है।

सह-अस्तित्व में विरोध तभी आता है जब एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र; दूसरे व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं। यह आक्रामक नीति ही सह-अस्तित्व की बाधा है। अपने से भिन्न वस्तु के स्वत्व का निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। स्व के आरोप में एक विचित्र प्रकार का मानसिक

झुकाव होता है। वह सत्य पर आवरण डाल देता है। सत्ता शक्ति या अधिकार-विस्तार की भावना के पीछे यही तत्त्व सक्रिय होता है।

स्वत्व की मर्यादा

आन्तरिक क्षेत्र में व्यक्ति की अनुभूतियां व अन्तर् का आलोक ही उसका स्व है।

वाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा जटिल वनती है। दूसरों के स्वत्व या अधिकारों का हरण स्व नहीं—यह अस्पष्ट नहीं है। संघर्ष या अशान्ति का मूल दूसरों के स्व का अपहरण ही है।

युग-भावना के साथ-साथ 'स्व' की मर्यादा वदलती भी है। उसे समझने वाला मर्यादित हो जाता है। वह संघर्ष की चिनगारी नहीं उछालता। रूढ़ि-परक लोग 'स्व' की शाश्वत-स्थिति से चिपके वैठे रहते हैं। वे अशान्ति पैदा करते हैं।

वाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा शाश्वत या स्थिर हो भी नहीं सकती। इसलिए भावना-परिवर्तन के साथ-साथ स्वयं को वदलना भी जरूरी हो जाता है। वाहर से सिमट कर अधिकारों में आना शान्ति का सर्व प्रधान सूत्र है। उसमें खतरा है ही नहीं। इस जन-जागरण के युग में उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और एकाधिकारवाद मिटते जा रहे हैं। विचारशील व्यक्ति और राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से वने अपने विशाल रूप को छोड़ अपने रूप में सिकुड़ते जा रहे हैं। यह सामञ्जस्य की रेखा है।

वर्ग-विग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह की समापन-रेखा भी यही है। इसीके आधार पर कहा जा सकता है कि आज का विश्व व्यावहारिक समन्वय की दिशा में प्रगति कर रहा है।

निष्कर्ष

शान्ति का आधार—व्यवस्था है।
व्यवस्था का आधार—सह-अस्तित्व है।
सह-अस्तित्व का आधार—समन्वय है।
समन्वय का आधार-सत्य है।
सत्य का आधार—अभय है।
अभय का आधार—अहिंसा है।

अहिंसा का आधार—अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का आधार—संयम है।

असंयम से संग्रह, संग्रह से हिंसा, हिंसा से भय, भय से असत्य, असत्य से संघर्ष, संघर्ष से अधिकार-हरण, अधिकार-हरण से अव्यवस्था, अव्यवस्था से अशान्ति होती है।

विरोध का अर्थ विभिन्नता है किन्तु संघर्ष नहीं।

१—सार्वभौम-दर्शन—अमुक दृष्टिकोण से यह यूं ही है—यह अस्तित्व की नीति है[५८]।

२—एकदेशीय या तटस्थ दृष्टिकोण—यह यूँ है—यह सापेक्ष नीति है[५९]।

३—आग्रही दृष्टिकोण—यह यूँ ही है—यह निरपेक्ष नीति है[६०]।

अपने या अपने प्रिय व्यक्तियों के लिए दूसरों के स्वत्व को हड़पने का यत्न करना पक्षपाती-नीति है।

आक्रामक को सहयोग देना पक्षपाती-नीति है। दूसरों की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप करना पक्षपाती-नीति है। उनमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं है (नास्ति—सर्वत्र-वीर्यवाद), यह एकान्तवाद है।

हममें सब सामर्थ्य है—(अस्ति-सर्वत्र-वीर्यवाद) यह एकान्तवाद है। दूसरों के 'स्वत्व' को अपना स्वत्व न बनाना संयम है। यही सहअस्तित्व का आधार ।

दूसरों के 'स्वत्व' पर अपना अधिकार करना असंयम या आक्रमण है—पारस्परिक विरोध और ध्वंस का हेतु यही है।

अपरिवर्तित सत्य की दृष्टि से परिवर्तन अवस्तु है, परिवर्तित-सत्य की दृष्टि से अपरिवर्तन अवस्तु है, यह अपनी-अपनी विषय-मर्यादा है किन्तु अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों निरपेक्ष नहीं हैं।

अपरिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय परिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय अपरिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

नय : सापेक्ष-दृष्टियाँ

१ नैगम-नय—

अभेद और भेद सापेक्ष हैं।

केवल अभेद ही नहीं है, केवल भेद ही नहीं है

अभेद और भेद सर्वथा स्वतन्त्र ही नहीं हैं।

यह विश्व अखण्डता से किसी भी रूप में नहीं जुड़ा हुआ खण्ड और खण्ड से विहीन अखण्ड नहीं है। यह विश्व यदि अखण्ड ही होता, तो व्यवहार नहीं होता, उपयोगिता नहीं होती, प्रयोजन नहीं होता। अगर विश्व खण्डात्मक ही होता तो ऐक्य नहीं होता। अस्तित्व की दृष्टि से यह विश्व अखण्ड भी है, प्रयोजन की दृष्टि से यह विश्व खण्ड भी है।

२ संग्रह-नय—

भेद-सापेक्ष अभेद प्रधान दृष्टिकोण।

वह यह, यह वह, सब एक हैं, विश्व एक है, अभिन्न है।

३ व्यवहार-नय—

वह यह, यह वह, सब भिन्न हैं, विश्व अनेक रूप है, भिन्न है।

४ ऋजु-सूत्र-नय—

भूत-भविष्य-सापेक्ष वर्तमान-दृष्टि।

जो बीत चुका है, वह अकिञ्चितकर है।

जो नहीं आया, वह भी अकिञ्चितकर है।

कार्यकर वह है, जो वर्तमान है।

५ शब्द-नय—

भूत, भविष्य और वर्तमान के शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं।

स्त्री, पुरुष और नपुसंक के वाचक-शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं।

६ समभिरूढ़-नय—

जितने व्युत्पन्न शब्द हैं उतने ही अर्थ हैं—एक शब्द दो वस्तुओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

७ एवम्भूत-नय—

एक ही शब्द सदा एक वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं करता। क्रिया-कालीन वस्तु का वाचक शब्द क्रिया-काल-शून्य वस्तु को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

दुर्नयः निरपेक्ष-दृष्टियाँ

१. व्यक्ति और समुदाय दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं—यह वस्तु-स्थिति का तिरस्कार है। वह ऐकान्तिक पार्थक्यवादी नीति (नैगम-नयाभास) है।

२. समुदाय ही सत्य है—यह व्यक्ति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक समुदायवादी नीति (संग्रह नयाभास) है।

३. व्यक्ति ही सत्य है—यह समुदाय का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक-व्यक्तिवादी नीति (व्यवहार-नयाभास) है।

४. वर्तमान ही सत्य है—यह अतीत और भविष्य, अपरिवर्तन या एकता का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक परिवर्तनवादी नीति (पर्यायार्थिक-नयाभास) है।

५. लिङ्ग-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

६. उत्पत्ति-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

७. क्रियाकाल ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है

निरपेक्ष दृष्टि का त्याग ही समाज को शान्ति की ओर अग्रसर कर सकता है।

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः।
लोकद्वितयभाविन्यो नैव साङ्गत्यमासते ॥

जिसकी शरण लिए बिना लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की क्रियाएं समञ्जस (संगत) नहीं होतीं, उस स्याद्वाद को नमस्कार है।

जेन विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेकगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

जिसके बिना लोक-व्यवहार भी संगत नहीं होता, उस जगद्गुरु अनेकान्त-वाद को नमस्कार है।

उत्पन्नं दधिभावेन, नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः॥

दही बनता है, दूध मिटता है, गोरस स्थिर रहता है। उत्पाद और विनाश के पौर्वापर्य में भी जो अपूर्वापर है, परिवर्तन में भी जो अपरिवर्तित है, इसे कौन अस्वीकार करेगा।

एकेनाकर्षन्ती　श्लथयन्ती　वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

एक प्रधान होता है, दूसरा गौण हो जाता है—यह जैनदर्शन का नय है।

इस सापेक्ष नीति से सत्य उपलब्ध होता है। नवनीत तब मिलता है, जब एक हाथ आगे बढ़ता है और दूसरा हाथ पिछे सरक जाता है।

परिशिष्ट

टिप्पणियां

: एक :

१—उत्त० ६।३६।

२—आचा० १।३।४।१२६।

३—आचा० १।३।४।१२६।

४—आचा० १।३।४।१२६।

५—आचा० १।३।४।१२२।

६—(क) सम्यक्-दर्शन आत्म-दर्शन। (ख) सम्यग्-ज्ञान-आत्मज्ञान।
(ग) सम्यक् चरित्र—आत्म-रमण।

७—खणमेत्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा ॥
—उत्त० १४।१३।

८—आचा० १।२।३।८०।

९—औप०।

१०—उत्त० १०।१८-२०।

११—उत्त० २६।१-३

१२—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ…… सू० १।२।२।३०

१३—सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदिय हाणी, जेण जोगा ण हायंति ॥
तत्त्नह न देहपीड़ा, न यावि चिअ मंस सोणि मत्तं तु।
जह धम्मज्झाण बुद्धी, तहा इमं होइ कायव्वं ॥
—पं० व० प्रथम द्वार २१४-१५

१४—रागो य दोसो वि य कम्मवीयं —उत्त० ३२।७

१५—कम्मं च मोहप्प भवं वयंति —उत्त० ३२।७

१६—ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुँति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
—उत्त० २८।३०

१७—बु० व० पृ० २२

१८—न्याय० सू० ४।१-३-६

१९—सां० का० ४४

२०—न्याय० सू० ४।१।३-६

२१—सां० का० ६४।३

२२—योग० द० २।१३

२३—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वि याहियं ॥ —उत्त० ८।१५

: दो :

१—भग० ८।१०

२—भग० ८।१०

३—भग० ८।१०

४—भग० ८।१०

५—भग० ८।१०

६—स्था० २।१।७२

७—तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा—णाण सम्मे, दंसण सम्मे, चरित्र सम्मे

—स्था० ३।४।११४

८—ना दंसणिस्स ना णं, नाणेण बिना न हुँति चरण गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्सस्स निव्वाणं॥

—उत्त० २८।३०

९—नन्वित्थं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति पर्यवसन्नम्। तत्र श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः, स च मानसोऽभिलाषः। नचायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्यामपीष्टम्, षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः सार्धपर्यवसित-कालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थिते प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यकत्वस्य कार्यम्, सम्यकत्वं तु मिथ्यात्व-क्षयोपशमादिजन्यः शुभआत्मपरिणामविशेषः। आह च—"से अ सम्मते पसत्थ सम्मत मोहणीयकम्माणु वेअणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाई लिंगे सुहे आय परिणामे पण्णत्ते।" इदं च लक्षणममनस्केषु सिद्धादि-स्वपि व्यापकम्। इत्थं च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति। यथोक्ते श्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवतीति श्रद्धानवतां सम्यकत्वस्या-वश्यम्भावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वेषु रुचिरित्यस्य तत्त्वार्थश्रद्धानमित्यर्थपर्यवसानं न दोषाय। तथा चोक्तम्-जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होई सम्मत्तं। भावेण सद्दहंत्ते आयाणमाणे वि सम्मत्तं॥ १॥ धर्म० सं०—२ अधिकार

१०—नन्ववबोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—रुचिः-सम्यकत्वम्, रुचिकारणं तु ज्ञानम्। यथोक्तम्—नाणमवायधिईश्रो, दंसण पिट्ठं जहोग्गहेश्राश्रो। यह वत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं।

—स्था० १

११—स्था० १

१२—स्था० २

१३—देखो कर्म प्रकरण।

१४— „ „ „

१५— „ „ „

१६—मिथ्यात्व मोह या अविशुद्धपुंज का उदय होता है।

१७—सम्यकत्व-मोह या शुद्ध-पुंज का उदय होने पर।

१८—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्रतिपाति—जो अशुद्ध-परमाणु-पुञ्ज का वेग बढ़ने पर मिट भी सके—वैसा सम्यक्-भाव

१९—औपशमिक सम्यग्-दर्शन—अन्तर्मुहूर्त्त तक होने वाला सम्यग्-भाव

२०—क्षायिक सम्यग्-दर्शन—अप्रतिपाति—फिर कभी नहीं जाने वाला।

२१—देखिए—आचार-मीमांसा

२२—उत्त० २८। १६-२७

२३—मिथ्यात्व-मोह की देशोन (पल्य का असंख्याततम भाग न्यून) एक कोड़ा-कोड़ सागर की स्थिति में से अन्तर्-मुहूर्त्त में भोगे जा सकें, उतने परमाणुओं को नीचे खींच लेता है। इस प्रकार उन परमाणुओं के दो भाग हो जाते हैं—(१) अन्तर्-मुहूर्त्त-वैद्य और अन्तर्-मुहूर्त्त कम पल्य का असंख्याततम भाग न्यून एक क्रोड़ाक्रोड़ी-सागर वेध।

२४—(१) पहला चरण 'यथा प्रवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि के समीप गमन होता है। (२) दूसरा चरण 'अपूर्वकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेद होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन पाने वाला मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का तीन रूपों में पुञ्जीकरण करता है। (३) तीसरा चरण 'अनिवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है। प्रथम पंज का शीघ्र

क्षय और दूसरे पुंज का उदय-निरोध (अन्तर् मुहूर्त तक उदय में न आ सके, वैसा विष्कम्भन) होता है। 'अनिवृत्तिकरण' के दो प्रधान कार्य हैं—(१) मिथ्यात्व परमाणुओं को दो रूपों में पुञ्जीकृत कर उनमें अन्तर 'करना' और (२) पहले पुञ्ज के परमाणुओं को खपाना। यहाँ अनिवृत्तिकरण का काल समाप्त हो जाता है। इसके बाद 'अन्तरकरण' की मर्यादा—मिथ्यात्व-परमाणुओं के विपाक से खाली अन्तर्-मुहूर्त का जो काल है, वह औपशमिक सम्यग्-दर्शन है। इनमें पहला विशुद्ध, दूसरा विशुद्धतर और तीसरा विशुद्धतम है। पहले में ग्रन्थि-समीपगमन, दूसरे में ग्रन्थि-भेद और तीसरे में अन्तर करण होता है।

२५—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शनी के मिथ्यात्व और मिश्र पुञ्ज उपशान्त रहते हैं, सम्यक्त्व पुञ्ज का वेदन रहता है। इस प्रकार द्विपुञ्ज के उपशम और तीसरे पुञ्ज के वेदन (वेदन द्वारा क्षय) के संयोग से क्षायोपशमिक दर्शन बनता है।

२६—तहिया णं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं। भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं। —उत्त० २८।१५

२७—असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि, अबंभं परियाणामि बंभं उवसंपज्जामि, अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, अकिरियं परियाणामि किरियं उवसं पज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि समत्तं उवसंपज्जामि अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि, अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि। —आव०

२८—तीर्थ प्रवर्तक वीतराग, राग-द्वेष-विजेता।

२९—मुक्त परमात्मा

३०—सर्वज्ञ-सर्व-दर्शन

३१—चत्तारि मंगलं…केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।… —आव०

३२—अरिहंतो महदेवो। जावज्जीवं सुसाहुओ गुरुणो। जिणपण्णत्तं तत्तं, इय समत्तं मए गहियं। —आव०

३३—स्था० ३-१

३४—स्था० २।४

३५—उत्त० २८।३१ —रत्न० श्रा० १।११।१८

३६—(क) उत्त० २८।२८

(ख) सम्यग्-दर्शी दुर्गति नहीं पाता— देखिए —रत्न० श्रा० १।३२

३७—भग० ३०।१

३८—सम्यग्-दर्शनसम्पन्न-मपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गुढाङ्गारान्तरौजसम्॥ —रत्न० श्रा० २८

३९—स्था० ६।१।४८०

४०—स्था० ६।१।४७८

४१—न चास्थिराणां भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च तेषां वाच्यवाचक भावो युज्यते —स्या० मं० १६

४२—तुलना—बाह्य जगत् वास्तविक नहीं है, उसका अस्तित्व केवल हमारे मनके भीतर या किसी अलौकिक शक्ति के मन के भीतर है यह आदर्शवाद कहलाता है। आदर्शवाद के कई प्रकार हैं। परन्तु एक बात वे सभी कहते हैं, वह यह कि मूल वास्तिवकता मन है। वह चाहे मानव-मन हो या अपौरुषेय-मन और वस्तुतः यदि उसमें वास्तविकता का कोई अंश है तो भी वह गौण है। एंग्लस के शब्दों में मार्क्स-वादियों की दृष्टि में—"भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण प्रकृति को ठीक उसी रूप में देखता है, जिस रूप में वह सचमुच पायी जाती है।" बाह्यजगत् वास्तविक है। हमारे भीतर उसकी चेतना है या नहीं—इस बात से उसकी चेतना स्वतन्त्र है। उसकी गति और विकास हमारे या किसी और के मन द्वारा संचालित नहीं होते।

(मार्क्सवाद क्या है ? ५,६८,६६ ले० एमिल बर्न्स)

४३—ये चारों तथ्य मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

४४—जड़० पृ० ६०-६४

४५—भग० १।३

: तीन :

१—आणागिज्झो अत्थो, आणा ए चेव सो कहेयव्वो।
दिट्ठंतिअं दिट्ठंता, कहणविहि, विराहणा इयरा॥ —आव० ६।७१

२—जो हेउवाय पक्खम्मि, हेउओ, आगमे य आगमियो।
सो ससमयपण्णवओ, सिद्धन्त विराहओ अन्नो॥ —सन्म० ३।४५

३—ना दंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥—उत्त० २८।३०

४—अत्ताण जो जाणति जोय लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं (च) मरणं च जणोरवायं॥
अहो वि सत्ताण विउट्ठणं च, जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिह इ किरियवायं॥
—सू० १।१२।२०,२१

५—वी० स्तो० १९।६

६—अविद्या बन्ध हेतुः, स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते॥

७—यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम—रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यम् इति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्-तद्यथा-संसारः संसार-हेतुः, मोक्षो, मोक्षोपाय इति। —न्या० भा० २।१५

८—दुःखमेव सर्वं विवेकिनः हेयं दुःखमनागतम्—यो० सू० २-१५-१६

९—दुःख त्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ—सां० १—क

१०—सव्वेपाणा ण हन्तव्वा-एसधम्मे, धुवे. णियए, सासाए—आचा० १-४-१

११—शिवमयलमरूअमणंतमुक्खयमव्वावाहमपुणरावित्ति, सिद्धि गई, नाम धेयं ठाणं—णमोत्थुणं—आव०

१२—जे निज्जिण्णे से सुहे, पावे कम्मे जेय कडे जेय कज्जइ जेय कज्जिस्सइ-सव्वे से दुक्खे। —भग० ७।८

१३—अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे—आचा० ३-२-१८३

१४—खणमित्त सुक्खा बहुकालदुक्खा पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा ।
संसार मुक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थानओ काम भोगा ॥
—उत्त० १४।१३

१५—सव्वे अक्कंत दुक्खाय—सू० १६

१६—जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगणि मरणाणिय ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो—उत्त० १६।१६

१७—आचा० वृ० १-१

१८—आचा० २-४-११०

१९—किं भया पाणा समणाउसो !……गोयमा !
दुक्खभयापाणा समणा उसो । सेणं भंते ! दुक्खे केण कडे–जीवेण कड़े, पमाएणं ! सेणं भन्ते दुक्खे कहं वेइज्जंति ? अप्पमाएणं—स्था ३।२

२०—जं दुक्खं इह पवे इयं माणवाणं, तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्ण मुदा हरंति—आचा० १-२-६

२१—इह कम्मं परिण्णाय सव्वसो—आ० १।२।६

२२—जे मेहावी अणुग्घाय खेयण्णे, जेय वंध पमुक्ख ण मन्नेसि ।
—आचा० १।२।६

२३—जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं, नाणवं वेयवं, धम्मवं, वंभवं—आचा० १-३-१

२४—सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीरमभ्युपगमात् । जीव सहितासहितत्वं तु विशेषः । उक्तञ्च—
सत्था सत्थ हयाओ, निज्जीव, सजीव रूवाओ—आचा० वृ० १।१।३

२५— अनन्तानामसुमतामेकसूक्ष्मनिगोदिनाम् ।
साधारणं शरीरं यत्, स "निगोद" इति स्मृतः ॥ —लो० प्र० ४।३२

२६—कदापि ये न निर्याता बहिः सूक्ष्मनिगोदतः ।
अव्यावहारिका स्ते स्यु र्दरीजातमृताइव ॥ —लो० प्र० ४-६६

२७—सूक्ष्मान्निगोदतोऽनादेर्निर्गता एकशोपि ये ।
पृथिव्यादिव्यवहारञ्च, प्राप्तास्ते व्यावहारिकाः ॥

सूक्ष्मानादिनिगोदेषु, यान्ति यद्यपि ते पुनः।
ते प्राप्तव्यवहारत्वात्, तथापि व्यवहारिणः॥

—लो० प्र० ४।६४-६५

२८—प्रज्ञा० १८, लो० प्र० ४।३

२९—जैन० दी० ४।२३

३०—(क) कडेण मूढो पुणो वितं करेइ —आचा० १-२-५-९५

(ख) वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्च वृत्तयः—इत्येवं-वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्त्तते —पा० यो० १-५ भास्वती

३१—भग० १३।४

३२—भग० १३।४

३३—उत्त० २८।१४

३४—त० सू० १।४,

३५—उत्त० २८।१४,

३६—त० सू० २।१०,

३७—जैन० दी० ५।१५

३८—यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः। —समाधि० ३१

३९—(क) अन्यच्छरीरमन्योहम्—तत्त्वा० १४९

(ख) जीवान्यःपुद्गलश्चान्यः —इ० ५०

४०—पुद्गलः पुद्गला स्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते॥ —श्री ज्ञानसार सूक्त १०।५

४१—यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥

४२—भग० १।८।७

४३—सू० १।१०।१५

४४—पमायं कस्म माहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावा देसओ वायि, बालपंडियमेव वा॥ —सू० १।८।३

४५—सू० १ ८-४-९

४६—सू० १-८-९-३६

४७—जैन० दी० ७।१

४८—करणम्-क्रिया-कर्मबंधनिबंधनम् चेष्टा—प्रज्ञा० वृ० पद ३१

४९—प्रत्याख्यानक्रियाया अभावः अप्रत्याख्यानजन्यः कर्मबन्धो वा।

—भग० वृ० १०१.

५०—प्रज्ञा० पद ३१—

५१—स्था० २।१।६०

५२—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति —आचा० १।३।१

५३—छसु जीव-णिकाएसु—प्रज्ञा० पद २२

५४—सव्व दव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५५—ग्रहणधारणिज्जेसु दव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५६—रूवेसु वा रूवसहगतेसु दव्वेसु —प्रज्ञा पद २२

५७—सव्वदव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५८—वी० स्तो० १६।६

५९—पणया वीरा महावीहिं —आचा० १।१।३

६०—स्था० २।१।६०

६१—स्था० २-१-६०

६२—क्रिया की जानकारी के लिए देखिए—स्था० २।१।६०, प्रज्ञा० २२, ३१
भग० १।६, ८।६ १।८, ७।१, ६।३४, १७।१, १७।४, ३।३, ५।६; ७।७,
१६।८, सू० २।१

६३—सू० १,१०,२१

६४—प्रज्ञा० पद २२

६५—औप० ४३

६६—से णं भन्ते! अकिरिया किंफला? निव्वाणफला। —स्था० ३-१९०

६७ भग० ३।३

६८—सिद्धिं गच्छई नीरओ —दशवै० ४।२४

६९—तवसा धूयकम्मंसे, सिद्धो हवइ सासओ —उत्त० ३-२०

७०—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोदिं चइत्ताण, कत्थ गंतूण सिज्झइ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गेय पइट्ठिया।

इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ —उत्त० ३६।५६-५७

७१—कम्म गुरु यत्तयाए, कम्म भारियत्ताए, कम्म गुरु संभारियत्ताए······

नेरइया नेरइएसु उववज्जंति —भग० ६-३२

७२—सहजोर्ध्वगमुक्तस्य, धर्मस्य नियमं विना।

कदापि गगनेऽनन्ते, भ्रमणं न निवर्तते ॥ —द्रव्यानु० त० १०।६

७३—जाव च णं भंते। से जीवे नो एअइ जाव नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्य जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ ?–हंता, जाव-भवइ।

—भग० ३।३

७४—जैन० दी० ५।४२

७५—अन्नस्स दुक्खं अन्नोन परियाय इत्ति, अन्नेण कडं अन्नो न परिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरई, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा······सू० २।१

७६—अप्पा मित्तममित्तंच, दुपट्ठिय सुपट्ठिय। —उत्त० २०।३७

७७—अण्णाणदो णाणी, जदि मण्णदि सुद्ध संपओगादो हवदिति दुक्खं मोक्खं, पर समय रदो हवदि जीवो। —पञ्च० १७३

७८—सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु —आव० चतु०

: चार :

१—दशवै० ४—गाथा० ११ से २५ तक

२—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।

—उत्त० २८।३०

३—भग० ८।१०। ३५४

४—मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिः—मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणा। मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्धयपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम्। ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः, गुणा हि ज्ञानादिरूपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति ? उच्यते इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रवलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूता व्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात्, यदाह आगमः—'सव्व जीवाणं पिअणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा, इत्यादि। तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रवलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः। यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद् गदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते तस्य

भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। "पयमक्खरंपि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठ। सेसं रोयंतो विहु, मिच्छा दिट्ठि जमालिव्व॥ १॥" किं पुनर्भगवदभिहितसकलजीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः।

—कर्म० टी० २

५—सेन प्रश्नोत्तर, उल्लास ४, प्र० १०५

६—उत्त० ५।२२

७—उत्त० ७।२०

८—शा० सु०

९—भग० ७।६

१०—स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रिया-परत्वात्। —भग० वृ० ८।१०

११—सम्मदिट्ठिस्स वि अविरयस्स न तवो बहु फलो होई।
हवई उ हत्थिण्हाणं बुंदं छिययं व तं तस्स॥

१२—चरण करणेहिं रहिओ न खिज्झइ सुद्ध-सम्मदिट्ठी वि जेणागमम्मि सिद्धो, रहंधपंगूण दिट्ठंतो॥ —द० वि० ५२,५३

१३—उत्त० ६।६,१०

१४—भग० १७।२

१५—सू० २।२।३६

१६—भग० १६।६

१७—स्था० ७

१८—दशवै वृ० ४-१६

१९—आचा० १।४।१

२०—उत्त० ६।२

२१—उत्त० २३।२३-२४

२२—जामा तिण्णि उदाहिआ —आचा० १।८।१६

: पाँच :

१—जं सम्मंतिपासहा तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा

आचा० १।५।३।१५६

२—सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थो वरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

—आचा० १।३।२।११३

३—सुत्ता अमुणी सया मुणीणो जागरंति —आचा० १।३।५।१६०

४—प्रमाद के ८ प्रकार हैं—(१) अज्ञान, (२) संशय, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) मति-भ्रंश (७) धर्म के प्रति अनादर, (८) मन, वाणी और शरीर का दुष्प्रयोग।

५—अज्जोति !……किं भया पाणा ?…दुक्खभया पाणा…दुक्खे केण कड़े ? जीवेणं कड़े पमादेण, दुक्खे कहं वेइज्जति ? अप्पमाएणं।

—स्था० १।३।२।१६६

६—आचा० १।२।३।७८

७—सू० वृ० २-१-१४

८—कसेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

९—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ —सू० १-६-२-३०

१०—जरेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

११—देहे दुक्खं महाफलं —दशवै० ८-२७

१२—आचा० १-१-८-५१

१३—आचा० १-३-३-११९

१४—उत्त० ३२-१९

१५—आचा० १,३-१,११०

१६—आचा० १-३-३,११९

१७—दशवै० २।५

१८—आचा० १-३-१-१०७

१६—तुट्टंति पाव कम्माणि, नवं कम्ममकुधओ।

अकुधओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणई॥ —सू० १।१५।६,७

२०—सू० १।१५-१७।

२१—भग० ७।१

२२—सू० ११४-१५

२३—एक्कं चिय एक्कवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।

पाणाइवायविरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा॥ —पं० सं०

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।

एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥—हा० अ०

२४—अहिंसा शस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।

—हा० अ० १६।५

२५—अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्य व्रतानि यत्। —योग०

२६—नाइ वाएज्ज कंचणं।

नय वित्तासए परं। —उत्त०२।२०

२७—न विरुज्झेज्जकेणई। —सू० १।१५।१३

२८—मेत्ति भूएसु कप्पए। —उत्त० ६।२

२९—आचा० १।५।५।५

३०—आचा० २।१५ —प्रश्न० (संवर द्वार)

३१—तं बंभं भगवतं —प्रश्न० २-४

३२—तवेसु उत्तमं बंभचेरं··· —सू० १।६।२३

३३—जंमिय आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं —प्रश्न० २-४

३४—इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा उत्तेजणा —सू० १।१५।६

३५—जम्मिय भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं सभग्गं —प्रश्न० २।४

३६—नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए —उत्त० ३२।१७

३७—उत्त० ३२।१८

३८—आचा० १।५।४।१६०

३९—उत्त० ३२।१०१

४०—उत्त० १६।१०

४१—दशवै० १।४-५—उत्त० ३२।२१

४२—उत्त० ३२।३

४३—उत्त० ३२।४

४४—उत्त० ३२।१५

४५—आचा० १।५।४।१६०

४६—दशवै० ८।५६

४७—उत्त० ३२।१२

४८—सू० १।३।४।१४

४९—सू० १।२।३।२

५०—उत्त० १६

५१—ताउव्व जालमच्चेइ, पिया लोगंसि इत्थिओ···सू० १।१५।८।

५२—सम० ११, दशा० ६

५३—ठाणेणं, मोणणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि। —आव०

५४—औप० (तपोऽधिकार)

५५—वहिया उड्ढमादाय, नाव कंखे कयाइ वि।
पूव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥ —उत्त० ६।१४

५६—अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथावलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ —सम० १०२

५७—औप० (तपोऽधिकार)

५८—औप० (तपोऽधिकार)

५९—त० सू० ६।३६ —तत्त्वा० ४६-४७

६०—प्रज्ञा० १; —त० सू० ६।३७

६१—प्रज्ञा० १

६२—प्रज्ञा० १

६३—त० सू० ६।४०

६४—औप० (तपोऽधिकार)

६५—"नवा जानामि यदिव इदमस्मि" —ऋग्० १।१६४।३७

६६—वे० सू० ३।४।१७-२०

६७—गी० र० पृष्ठ ३४४

६८—कठ० उप०

६९—छान्दो० उप० ७।३४

७०—छान्दो० उप० ५।११।१२

७१—वृह० उप० २।१

७२—यथेयं न प्राक्तः पुरा विद्या, ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच —छान्दो उप० ५।३।७

७३—इह मेगेसिं नो सन्ना भवई—अत्थि में आया उववाइये, नत्थि मे आया उववाइए, के अहमंसि, केवाइओ चुओ इह मेचा भविस्सामि—

—आचा० १।१।१२

७४—गी० र०

७५—नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। —कठ० उप० २।३

७६—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

—जाबा० उप० ४

७७—द० चि० पृ० १३७-३८

७८—औप०

७९—उत्त० ५।२०

८०—उत्त० ५।२६-२८

८१—उत्त० ५।२३-२४

८२—उत्त० ६।४४

८३—उत्त० ६।२६

८४—"पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं" —आचा० १।५।३।१५६

८५—अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंग सिद्धा। नं० २०

८६—उत्तर मणुयाण आहियांगाम धम्मा इह ये अणुस्सुयं।

जं सि विरता, समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म चारिणा॥

—सू० १।२।२।२५

८७—भणंता अकरेंता य बन्धमोक्ख पइण्णिणो।

वाया वीरिय मेते समासासेंति अप्पयं॥ —उत्त० ६।९

८८—सू० १।८।२

८९—सू० १।८।३

९०—सू० १।८।९

९१—सू० १।८।२२

९२—सू० १।८।२३

९३—नेव से अन्तो, नेव से दूरे —आचा०

९४—दशवै० २।२३

९५—गी० र० पृ० ३३९

९६—मनु० ६।९

९७—महा० भा० (शान्ति पर्व) २४४।३

९८—गी० र० पृ० ४५

९९—संन्यस्य सर्वकर्माणि —मनु० ६।२५

: छह :

१—उत्त० २८।१४

२—म० नि० १४१

३—उत्त० १६।१५

४—भग० ७।८

५—महा० १।६।१६

६—स्था० ५।१।३६५

७—उत्त० ३२

८—स्था० ६।३।४८८

६—वही ,,

१०—स्था० ४

११—नं० ३७।७७

१२—म० नि० २८

१३—म० नि० २८

१४—(क) न जरा, न मृत्यु र्न शोकः —छान्दो० उप० ४८।८।१

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्···छान्दो० उप० ७।२६।२

(ख) जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणिय···उत्त० १६।१५

(ग) जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा मरणं पि दुक्खं

—महा० १।६।१६

१५—(क) अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।

जत्थ नत्थि जरा मच्चु; वाहिणो वेयणा तहा॥

—उत्त० २३।८१।

(ख) जन्म मृत्यु जरादुखै-र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते —गी०

१६—आचा० १।३।२।१११-७

१७—उत्त० ३२।६

१८—उत्त० ३२।३०
१९—उत्त० ३२।३०
२०—उत्त० २।६४-६५
२१—आचा०
२२—सू०
२३—उत्त० ३२।१९
२४—उत्त० ३२।१०२
२५—उत्त० ३२।७
२६—उत्त० २३।४८
२७—म० नि० ३८
२८—उत्त० ३२।१०६-७
२९—सू० १।११।११
३०—सू० १।१४।१६
३१—अं० नि० ३२
३२—सू० १।११।१
३३—सू० १।११।५
३४—आचा० १।४।४।१३८
३५—सू० १।११।२
३६—उत्त० २८।२
३७—धम्म० २०,
३८—दशवै० ८।३५
३९—दशवै० ८।३५
४०—सन्म० ३।५४
४१—सन्म० ३।५५
४२—उत्त० ३६।२
४३—उत्त० १०।१५

: सात :

१—आचा० १,४।२।६

२—सू० २।१।१५

३—आचा० १।१।१।१०-११

४—आचा० १।२।१।६७

५—नाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि—आचा० १।४।२।१३२

६—नत्थि कालस्स णा गमो —आचा० १।२।३।८१

७—आचा० १।२।१।६७

८—आचा० १।१।१।८-९

९—सू० १।१।२।१८

१०—सू० १।१।२।१९

११—आचा० १।२।१।७१

१२—मन्दा मोहेण पाउडा—नो हव्वाए नो पाराए —आचा० १।२।२।७४

१३—आचा० १।२।२।७५

१४—आचा० १।२।२।७६

१५—आचा० १।२।२।७७

१६—आचा० १।१।४।३५

१७—आचा० १।१।१।१२-१३

१८—आचा० १।१।१।१-३

१९—आचा० १।१।१।४-७

२०—आचा० १।१।७।५७

२१—आचा० १।१।६।५१

२२—आचा० १।१।७।५७

२३—आचा० १।५।५।१६५

२४—आचा० १।१।७।५७

२५—आचा० १।१।५।३३

२६—आचा० १।३।३।११६

२७—दशवै० ४

२८—आचा० १।४।१।१२७

२९—आचा० १।३।३।११८

३०—उत्त० २०।३७

३१—छसु अन्नयरम्मि कप्पइ। —आचा० १।२।६।२८

३२—आचा० १।१।३।२३

३३—सू० वृ० २।२

३४—सू० वृ० २।२

३५—आचा० १।१।२।१७

३६—सू० १।११।६

३७—सू० १।११।१०

३८—आचा० १।१।३।२७

३९—रा० प्र० ४७

४०—स्था० ४।३।३३४

४१—आचा० १।५।२।१५१

४२—आचा० १।३।४।१२४

४३—भग०

४४—भग०

४५—आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु —स्या० मं० ५

४६—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुद्धयते। —स्या० मं० २४

४७—जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। —सन्म० ३।४७

४८—णिययवयणिज्जसच्चा सव्वन्नया परवियालणे मोहा। —सन्म० १।२८

४९—नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥ —स्या० र० ७।१

५०—विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयानां सुनयताम्। —स्या० र० ७।१

५१—विपक्षक्षेप्तॄणां पुनरिह विभो! दुष्टनयताम्। —स्या० र० ७।१

५२—सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते सम्भूय साधु-समयं भगवन् !

भजन्ते—न० क० २२

५३—एकान्तानित्ये एकान्तनित्ये च वस्तुनि व्यवहारो—व्यवस्था न घटते

—सू० वृ० २।५।३

५४—य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते॥

—स्या० मं० २६

५५—हि०, अक्टूबर ५, १६५६

५६—सया सच्चेण संसन्ने मेत्तिं भूएसु कप्पए। —सू० १।१५।३

५७—पवड्ढइ वेरमसंजयस्स। —सू० १।१०।१७

५८—स्यात् अस्ति एव।

५६—सत्।

६०—सदेव।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व संकेत

अंगुतर निकाय—अं॰ नि॰

आचारांग—आचा॰

आचारांग वृत्ति—आचा॰ वृ॰

आप्त मीमांसा—आ॰

आवश्यक सूत्र—आव॰

इष्टोपदेश—इ॰

उत्तराध्ययन—उत्त॰

ऋग् वेद—ऋग्॰

औपपात्तिक—औप॰

कठोपनिषद्—कठ॰ उप॰

कर्म ग्रन्थ टीका—कर्म॰ टी॰

गीता रहस्य—गी॰ र॰

छान्दोग्य उपनिषद्—छान्दो॰ उप॰

जड़वाद—जड़॰

जाबालोपनिषद्—जाबा॰ उप॰

जैन सिद्धान्त दीपिका—जैन॰ दी॰

तत्वार्थ सूत्र—त॰ सू॰

तत्वानुशासन—तत्वा॰

दशवैकालिक—दशवै॰

दशवैकालिक वृहत वृति—दशवै॰ वृ॰

दर्शन और चिन्तन—द॰ चि॰

दर्शन विशुद्धि—द॰ वि॰

धम्मपद—धम्म॰

धर्म संग्रह टीका—धर्म॰ टी॰

नन्दी सूत्र—नं॰

नय कर्णिका—न० क०

न्याय सूत्र—न्या० सू०

पातञ्जलयोग सूत्र—पा० यो०

प्रश्न व्याकरण—प्रश्न०

प्रज्ञापना—प्रज्ञा०

प्रज्ञापना वृत्ति—प्रज्ञा० वृ०

पञ्च वस्तुक—पं० व०

पञ्च संग्रह—पं० सं०

पञ्चास्तिकाय—पंचा०

बुद्ध वचन—बु० व०

भगवती वृति—भग० वृ०

भगवती सूत्र—भग०

मज्झिम निकाय—म० नि०

महाभारत—महा० भा०

महावग्ग—महा०

मनुस्मृति—मनु०

योग दर्शन—योग० द०

योगशास्त्र—योग०

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—रत्न० श्रा०

राजप्रश्नीय—रा० प्र०

लोक प्रकाश—लो० प्र०

वीतरागस्तोत्र—वी० स्तो०

वेदान्त सूत्र (शांकरभाष्य)—वे० सू०

वृहदारण्योपनिषद्—वृह० उप०

व्यास भाष्य—व्या० भा०

सन्मति तर्क प्रकरण—सन्म०

समवायांग—सम०

समाधि शतक—समाधि०

सूत्र कृतांग—सू०

सूत्र कृतांग वृत्ति—सू० वृ०

सांख्य कारिका—सां० का०

सेन प्रश्नोत्तर —सेन०

स्थानांग सूत्र—स्था०

स्याद्वाद मंजरी—स्या० मं०

स्याद्वादरत्नाकरावतारिका—स्या० र०

शान्त सुधारस—शा० सु०

श्री ज्ञानसागर सूक्त—

हारिभद्र अष्टक—हा० अ०

हिन्दुस्तान (दैनिक)—हि०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व
(पहला भाग)
,, ,, ,, ,, (दूसरा भाग)
जैन धर्म आर दर्शन
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा तत्त्व दर्शन
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन

आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च

सा विद्या या विमुक्तये
आदर्श साहित्य संघ